श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित
श्री
श्रीप्रेमसम्पुट
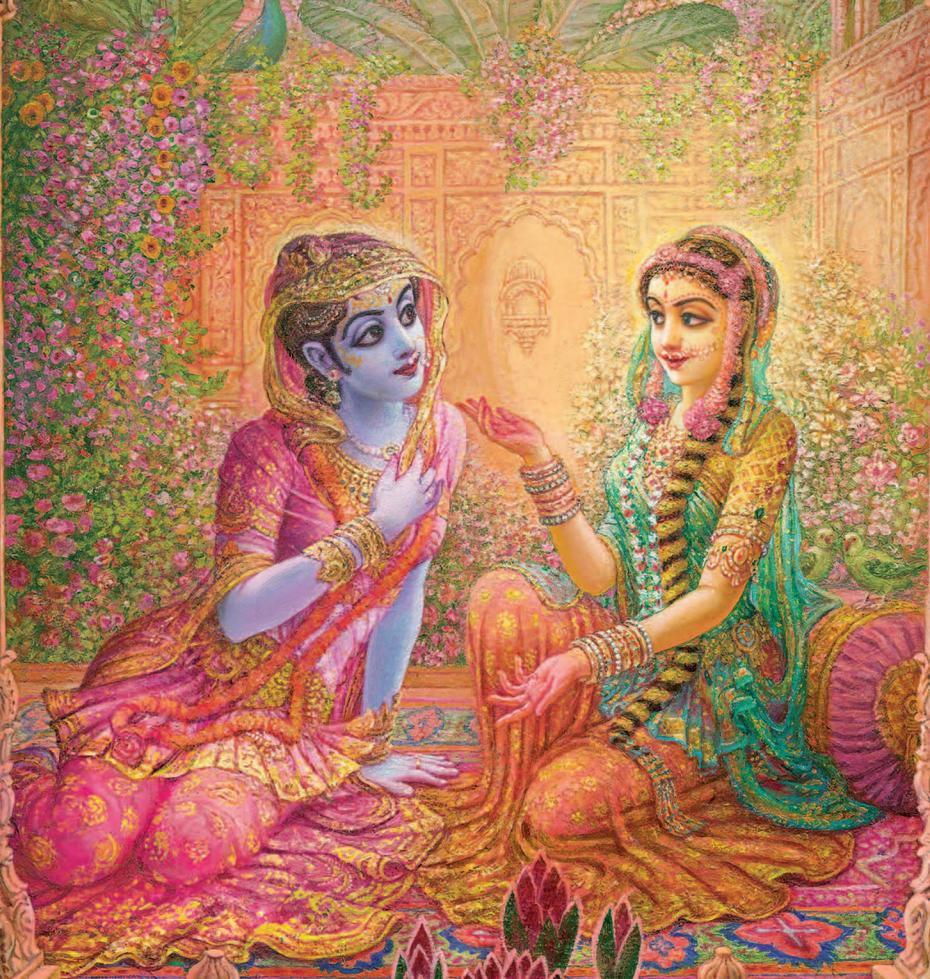
श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीप्रेमसम्पुटः

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय
मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—

श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज

द्वितीय संस्करण—

नित्यलीला प्रविष्ट जगद्गुरु श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर प्रभुपादका विरह–महोत्सव
५२२ श्रीचैतन्याब्द
१६ दिसम्बर, २००८ ई०

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ० प्र०)
०५६५–२५०२३३४

श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ० प्र०)
०५६५–२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ० प्र०)
०५६५–२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प० बं०)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी–३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११–२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५–२४४३१०१

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा
०६७५२–२२७३१७

प्रस्तावना

आज मुझे श्रीगौड़ीय-वैष्णव आचार्यमुकुटमणि महामहोपाध्याय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित श्रीप्रेमसम्पुटः ग्रन्थका हिन्दी संस्करण श्रद्धालु पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त आनन्दकी अनुभूति हो रही है। यह उनके द्वारा प्रणीत एक अनुपम खण्ड काव्य है। इसकी भाषा गम्भीर किन्तु सहज बोधगम्य है।

किसी समय देवाङ्गनाके वेषमें श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके समीप पहुँचे। देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णने उस समय सम्पूर्ण रूपसे मौन धारण कर रखा था। श्रीमती राधिका अनुपम सुन्दर उस देवाङ्गनारूपी श्रीकृष्णको देखकर अत्यन्त आनन्द सहित उसे अपनी सखी बनानेके लिए बड़ी उत्कण्ठित हुईं। श्रीमती राधिकाजी द्वारा देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णसे बहुतसे प्रश्न करनेपर भी वे कुछ नहीं बोलें। श्रीमती राधिकाजी विचार करने लगीं कि इस परम सुन्दरी सखीको निश्चित रूपमें कोई रोग है, जिस कारण ये उत्तर नहीं दे रही है। कुछ देरके पश्चात् श्रीमती राधिकाके बहुत कहनेपर उसने राधिकाजीको बतलाया, "मैं तुम्हारी प्रशंसा सुनकर स्वर्गलोकसे नरलोकमें तुम्हारा दर्शन करनेके लिए आयी थी। मैंने यहाँ आकर देखा कि वृन्दावनके वंशीवटमें श्रीकृष्णका रास चल रहा था। जब किसी कारणवश तुमने रास छोड़कर वनकी ओर प्रस्थान किया तो समस्त गोपियोंके उपस्थित रहनेपर भी श्रीकृष्णने रास छोड़कर तुम्हारे पथका अनुसरण किया। किन्तु कुछ समय तुम्हारे साथ रहनेके उपरान्त श्रीकृष्ण तुम्हें भी अकेले छोड़कर अन्तर्धान हो गये। उस समय तुम गम्भीर रूपसे रोदन (विलाप) करने लगी। तुम्हारी ऐसी करुण अवस्था देखकर मुझे श्रीकृष्णपर बहुत ही क्रोध आया। अतएव मैं तुम्हारे समीप आयी हूँ।" ऐसा कहकर वह देवाङ्गना श्रीकृष्णके बहुत-से दोषोंका वर्णन करने लगी।

देवाङ्गनाने कहा—"श्रीकृष्णके जो भी समस्त गुण हैं, वे सब ठीक हैं, किन्तु उनका एक ही दुर्गुण समस्त गुणोंको नष्ट कर देता है। वह यह कि तुमने श्रीकृष्णके लिए पिता, माता, भाई, बन्धु, पति,

लोक, लज्जा, गुरुजनोंका आदेश इत्यादि सब कुछ छोड़कर उनसे प्रेम किया और वे तुम्हारे प्रति इतने निष्ठुर हो गये कि तुम्हें छोड़कर अन्तर्धान हो गये। मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। अतएव मेरे मतानुसार तुम्हें उनसे प्रेम नहीं करना चाहिये और यदि प्रेम करोगी, तो तुम्हें भविष्यमें और भी दुःख होगा।"

देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णकी इन बातोंको सुनकर श्रीमती राधिकाजीने उसे प्रेमके स्वरूपके विषयमें बतलाया। श्रीराधाजी द्वारा वर्णित वह प्रेमका स्वरूप ही यह प्रेमसम्पुटः नामक ग्रन्थ है।

सम्पुटका अर्थ है वह आधार (स्थान) जहाँ बहुमूल्य रत्नादिको लोगोंकी दृष्टिसे बचाकर यत्नपूर्वक गोपन या संरक्षित किया जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीराधाजीके हृदयरूपी सम्पुटसे उद्घाटित उन्नत-उज्ज्वलरसजात प्रेमका इस ग्रन्थरूपी 'संदूक' में संरक्षण किया है, इसलिए इस ग्रन्थका नाम 'प्रेमसम्पुटः' है। श्रीराधाजीने उस प्रेमको अपने हृदयरूपी सम्पुटसे उद्घाटित करते हुए दो श्लोकोंमें वर्णन किया है—

एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक-
नालोत्थमब्जयुगलं खलु नीलपीतम्॥१०८॥

यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक-
वर्त्त्यग्रवर्त्त्यमलदीपयुगं चकास्ति।
तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष-
मानन्दयेदखिलपार्श्वगताः सदालीः॥१०९॥

तात्पर्य यह है कि श्रीराधा और श्रीकृष्णमें देहका पार्थक्य होनेपर भी स्वरूपगत कोई पार्थक्य नहीं है। 'आनन्द' ही श्रीकृष्णका स्वरूप है और 'ह्लादिनीका सार' ही राधाजीका स्वरूप है। शक्ति और शक्तिमान दोनों अभिन्न हैं—यह वैदान्तिक सत्य है, 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः'। स्वरूप और शक्तिके दृष्टिकोणसे दोनोंमें अभेद है, किन्तु लीलाके आस्वादनके लिए दोनोंमें कुछ भेद और वैशिष्ट्य है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका जीवन-चरित्र

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर नदिया जिलेमें राढ़ीय श्रेणी विप्रकुलमें आविर्भूत हुए थे। ये हरिवल्लभके नामसे प्रसिद्ध थे। रामभद्र और रघुनाथ नामक इनके दो बड़े भाई थे। बाल्यकालमें इन्होंने देवग्राम नामक एक ग्राममें व्याकरण पाठ समाप्तकर मुर्शिदाबाद जिलेके शैयदाबाद नामक ग्राममें (गुरुगृहमें) भक्ति-शास्त्रोंका अध्ययन किया। इन्होंने बिन्दु, किरण और कणा—इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना शैयदाबाद ग्राममें अध्ययन करते समय ही की थी। कुछ दिनों बाद वे गृहत्यागकर वृन्दावन चले आये। यहींपर इन्होंने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ व टीकाएँ लिखीं।

श्रीमन् महाप्रभु और उनके अनुगत षड्गोस्वामियोंके अप्रकट होनेपर शुद्धभक्ति-धारा श्रीनिवासाचार्य, श्रीनरोत्तम दास ठाकुर और श्रीश्यामानन्द—तीनों प्रभुओंके माध्यमसे प्रवाहित हो रही थी। श्रील नरोत्तम दास ठाकुरकी शिष्य-परम्परामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चतुर्थ-पुरुष हैं। श्रील नरोत्तम दास ठाकुर महाशयके शिष्यका नाम श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती महाशय था। ये मुर्शिदाबाद जिलेके अन्तर्गत बालूचर गम्भिलामें रहते थे। इन्हें कोई पुत्र न था, केवलमात्र एक कन्या थी, जिसका नाम विष्णुप्रिया था। श्रील नरोत्तम दास ठाकुरके एक वारेन्द्र श्रेणीके दूसरे शिष्य भी थे, जिनका नाम रामकृष्ण भट्टाचार्य था। इन रामकृष्ण भट्टाचार्यके कनिष्ठ पुत्रका नाम कृष्णचरण था। इन कृष्णचरणको श्रीगङ्गानारायणने दत्तकपुत्रके रूपमें ग्रहण किया। श्रीकृष्णचरणके शिष्य राधारमण चक्रवर्ती थे और ये श्रीराधारमण ही श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके श्रीगुरुदेव हैं। श्रीरासपञ्चाध्यायीकी सारार्थदर्शिनी टीकाके प्रारम्भमें इन्होंने ऐसा लिखा है—

श्रीरामकृष्णगङ्गाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रीलनरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्गप्रभुं नौमि॥

अर्थात् इस श्लोकमें श्रीरामसे उनके गुरुदेव श्रीराधारमण, कृष्णसे परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण, गङ्गाचरणसे परात्पर गुरुदेव श्रीगङ्गानारायण,

नरोत्तमसे परमपरात्पर गुरुदेव श्रीनरोत्तम दास ठाकुर और 'नाथ' शब्दसे श्रील नरोत्तम दास ठाकुरके गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामीको समझना चाहिये। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमन् महाप्रभु तक अपनी गुरुपरम्पराको प्रणाम कर रहे हैं, ऐसा सूचित होता है।

श्रीनिवासाचार्यकी कन्याका नाम हेमलता ठाकुरानी था। ये परमविदुषी तथा परम-वैष्णवी महिला-भक्त थीं। इन्होंने अपने रूपकविराज नामक एक उदासीन शिष्यको गौड़ीय-समाजसे बहिष्कृत कर दिया था। तबसे वे रूपकविराज गौड़ीय-वैष्णव-समाजमें 'अतिबाड़ी' नामसे परिचित हुए। उन्होंने गौड़ीय-वैष्णवोंके सिद्धान्तके विरुद्ध अपना एक नया मत स्थापन किया कि केवलमात्र त्यागी व्यक्ति ही आचार्यका कार्य कर सकता है। गृहस्थ व्यक्ति भक्तिका आचार्य नहीं हो सकता। विधिमार्गका सम्पूर्ण रूपसे अनादरकर उच्छृंखलतापूर्ण रागमार्गका प्रचार करना ही इनका उद्देश्य था। श्रवणकीर्त्तनका त्यागकर केवल स्मरणके द्वारा ही रागानुगाभक्ति सम्भव है—ऐसा इनका नवीन मत था।

सौभाग्यवश श्रील चक्रवर्ती ठाकुर उस समय वर्त्तमान थे। उन्होंने श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धकी सारार्थदर्शिनी टीकामें इसका प्रतिवाद किया। आचार्यवंशमें नित्यानन्द प्रभुके पुत्र वीरभद्र प्रभुके शिष्यवंशमें तथा अद्वैताचार्यके त्यक्त पुत्रोंके वंशमें गृहस्थ होकर गोस्वामी उपाधि प्रदान और ग्रहण करना उचित नहीं है—रूपकविराजके ऐसे विचारका श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने प्रतिवाद किया। उन्होंने आचार्यवंशके योग्य अधस्तन गृहस्थ सन्तानोंके द्वारा भी आचार्यका कार्य करना असङ्गत नहीं है, ऐसा प्रमाणित किया था। परन्तु वंश-परम्परा क्रमसे धन और शिष्यके लोभसे आचार्यकुलमें उत्पन्न अयोग्य सन्तानोंके लिए अपने नामके साथ गोस्वामी शब्दका प्रयोग शाश्वत-शास्त्र विरोधी और नितान्त अवैध कार्य है—ऐसा भी प्रमाणित किया। इसलिए उन्होंने (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने) आचार्यका कार्य करनेपर भी अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग कदापि नहीं किया। उन्होंने आधुनिक कालके विचारहीन अयोग्य आचार्य सन्तानोंको शिक्षा देनेके लिए ही ऐसा किया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जिस समय अत्यन्त वृद्ध हो गये थे तथा अधिकांश समय वे अर्द्धबाह्य और अन्तर्दशामें स्थित होकर भजनमें विभोर रहते थे, उसी समय जयपुरमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवों तथा स्वकीयावादी अन्यान्य वैष्णवोंमें एक विवाद छिड़ गया। उस समय द्वितीय जयसिंह जयपुरके नरेश थे। विरुद्ध पक्षवाले वैष्णवोंने द्वितीय जयसिंहको यह समझाया कि श्रीगोविन्ददेवके साथ श्रीमती राधिकाजीकी पूजा शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवत या विष्णुपुराणमें श्रीमती राधिकाके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं है। श्रीमती राधिका वैदिक विधियोंके अनुसार श्रीकृष्णकी विवाहित पत्नी नहीं हैं। दूसरी बात गौड़ीय-वैष्णव साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। चार ही वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जो अनादि कालसे चले आ रहे हैं। उनके नाम हैं—श्री-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय और सनक-सम्प्रदाय। कलियुगमें इन सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य क्रमशः श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य हैं। गौड़ीय-वैष्णव इन चारों सम्प्रदायोंसे बहिर्भूत हैं, अतः वे शुद्ध साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। विशेषतः इस वैष्णव-सम्प्रदायका अपना कोई ब्रह्मसूत्रका भाष्य नहीं है, अतएव इसे परम्परागत वैष्णव-सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता है। उसी समय महाराज जयसिंहने श्रीवृन्दावनके प्रधान गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंको श्रील रूपगोस्वामीका अनुगत जानकर श्रीरामानुजीय वैष्णवोंके साथ विचार करनेके लिए आह्वान किया। अत्यन्त वृद्ध तथा भजनानन्दमें विभोर रहनेके कारण श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने अपने छात्र गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य, पण्डितकुलमुकुट महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और अपने शिष्य श्रीकृष्णदेवको जयपुरमें विचार करनेके लिए भेजा।

जाति-गोस्वामीगण अपने मध्व-सम्प्रदायके आनुगत्यको भूल चुके थे। साथ ही उन्होंने वैष्णव वेदान्तका अनादरकर गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए एक महान विपत्तिका आह्वान किया था। श्रील बलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और सुदृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा यह प्रमाणित किया कि गौड़ीय-सम्प्रदाय मध्वानुगत शुद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायका नाम श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय है। हमारे पूर्वाचार्य श्रील जीवगोस्वामी, कविकर्णपूर आदिने इसे स्वीकार

किया है। श्रीगौड़ीय-वैष्णवजन श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसलिए गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायमें स्वतन्त्र रूपसे वेदान्तसूत्रके किसी भाष्यकी रचना नहीं की गयी है। विभिन्न पुराणोंमें श्रीमती राधिकाके नामका उल्लेख है, वे ह्लादिनीस्वरूपा, श्रीकृष्णकी नित्यप्रिया हैं। श्रीमद्भागवतके विभिन्न स्थलोंमें विशेषतः दसवें स्कन्धकी व्रजलीलाके वर्णन प्रसङ्गमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाका अत्यन्त गूढ़ रूपसे उल्लेख है। सिद्धान्तविद्, रसिक और भावुक भक्त ही इस गूढ़ रहस्यको समझ सकते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने उस विद्वत्सभामें प्रतिपक्षके सभी तर्कोंको खण्ड-विखण्डकर तथा सन्देहोंको दूरकर श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका मध्वानुगत्य प्रमाणित किया। विपक्ष निरुत्तर हो गया, फिर भी उन्होंने श्रीगौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका कोई वेदान्तभाष्य न होनेपर उन्हें शुद्ध पारम्परिक वैष्णव माननेसे अस्वीकार कर दिया। तब वहींपर ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्द-भाष्य' नामक सुप्रसिद्ध गौड़ीयभाष्यकी रचना की। इस प्रकारसे श्रीगोविन्ददेवके मन्दिरमें पुनः श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवापूजा प्रारम्भ हुई तथा गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके रूपमें मान्यता स्वीकार की गयी। श्रीचक्रवर्ती ठाकुरके सम्मति क्रमसे ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्द-भाष्यकी रचना की तथा गौड़ीय-वैष्णवोंका श्रीमध्वानुगत्य प्रमाणित किया—इस विषयमें तनिक भी सन्देहका अवकाश नहीं है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका यह साम्प्रदायिक कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके इतिहासमें स्वर्णाक्षरसे लिपिबद्ध रहेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने स्वरचित 'मन्त्रार्थदीपिका' में एक विशेष घटनाका वर्णन किया है—किसी समय उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतका पठन-पाठन करते हुए कामगायत्रीके अर्थसे सम्बन्धित निम्नलिखित पयारोंपर विचार किया—

कामगायत्री-मन्त्ररूप, हय कृष्णेर स्वरूप,
सार्द्ध-चब्बिश अक्षर तार हय।
से अक्षर 'चन्द्र' हय, कृष्णे करि' उदय,
त्रिजगत् कैला काममय॥

(चै॰ च॰ म॰ २१/१२५)

अर्थात् कामगायत्री श्रीकृष्णका स्वरूप है। इस मन्त्रराजमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, इस मन्त्रका प्रत्येक अक्षर पूर्ण चन्द्र है। ये चन्द्रसमूह कृष्णको उदित कराकर त्रिजगत्को प्रेममय बना देते हैं।

इन पद्योंके प्रमाणसे काम-गायत्रीमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, किन्तु कामगायत्रीमें कौन-सा अर्द्धाक्षर है, बहुत चिन्ता करनेपर भी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती इसे न समझ सके। व्याकरण, पुराण, तन्त्र, नाट्य तथा अलङ्कार आदि शास्त्रोंमें विशेष रूपसे छानबीन करनेपर भी उन्हें कहीं भी अर्द्धाक्षरका उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। उन सभी शास्त्रोंके अनुसार स्वर और व्यंजनके भेदसे उन्हें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख मिला, किन्तु कहीं भी अर्द्धाक्षरका कोई प्रमाण नहीं मिला। श्रील जीवगोस्वामी द्वारा रचित श्रीहरिनामामृत व्याकरणके संज्ञापादमें स्वर व्यंजनके प्रसङ्गमें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख देखा। मातृकान्यास आदिमें भी मातृका रूपके ध्यानमें कहीं भी उन्हें अर्द्धाक्षरका उल्लेख नहीं मिला। बृहन्नारदीय पुराणमें राधिकाके सहस्र-नाम-स्तोत्रमें वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाजीको पचास वर्णरूपिणी कहा गया है। उसे देखकर श्रील चक्रवर्ती ठाकुरका सन्देह और भी बढ़ गया, उन्होंने ऐसा सोचा कि क्या कविराज गोस्वामीने भ्रमवशतः ऐसा लिखा है? किन्तु उनमें भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं, वे भ्रम-प्रमादादि दोषोंसे सर्वथा रहित सर्वज्ञ हैं। यदि उक्त मन्त्रमें खण्ड 'त्' को अर्द्धाक्षर मानते हैं तो कृष्णदास कविराज गोस्वामी क्रमभङ्गके दोषसे दोषी ठहरते हैं क्योंकि उन्होंने ऐसा वर्णन किया है—

सखि हे, कृष्णमुख—द्विजराज-राज।
कृष्णवपु-सिंहासने, वसि' राज्य शासने,
करे सङ्गे चन्द्रेर समाज॥

दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि' मणि-सुदर्पण,
सेइ दुइ पूर्णचन्द्र जानि।
ललाटे अष्टमी-इन्दु, ताहाते चन्दन-बिन्दु,
सेइ एक पूर्णचन्द्र मानि॥

करनख-चान्देर ठाट, वंशी-उपर करे नाट,
तार गीत मुरलीर तान।

पदनख–चन्द्रगण, तले करे नर्त्तन,
नूपुरेर ध्वनि यार गान॥
(चै॰ च॰ म॰ २१/१२६–१२८)

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उक्त पंक्तियोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके मुखको पहला एक चन्द्र बतलाया है, तत्पश्चात् उनके दोनों गालोंको एक-एक पूर्णचन्द्र माना है, ललाटके ऊपरी भागमें चन्दनबिन्दुको चौथा पूर्णचन्द्र माना है तथा चन्दनबिन्दुके नीचे ललाट प्रदेशको अष्टमीका चन्द्र अर्थात् अर्द्धचन्द्र बतलाया है। इस वर्णनके अनुसार पञ्चम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, किन्तु खण्ड 'त्' को अर्द्धाक्षर माननेसे अन्तिम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, पञ्चम अक्षर अर्द्धाक्षर नहीं हो पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अर्द्धाक्षरका निर्णय न कर पानेके कारण बड़ी द्विविधामें फँस गये। उन्होंने विचार किया यदि मन्त्राक्षरकी स्फूर्ति न हो, तो मन्त्रदेवताकी स्फूर्ति होना असम्भव है, अतएव उपास्य देवताका दर्शन न होनेसे मर जाना ही अच्छा है। ऐसा सोचकर वे देहत्याग करनेकी अभिलाषासे रातमें राधाकुण्डके तटपर उपस्थित हुए। रात्रिका द्वितीय प्रहर व्यतीत होनेपर अकस्मात् तन्द्राकी स्थितिमें उन्होंने श्रीवृषभानुनन्दिनीका दर्शन किया। श्रीराधाजीने बड़े स्नेहसे कहा—"हे विश्वनाथ! हे हरिवल्लभ! खेद मत करो, श्रीकृष्णदास कविराजने जो कुछ लिखा है, वह परम सत्य है। मेरे अनुग्रहसे वे मेरे अन्तःकरणकी सभी भावनाओंको जानते हैं। उनके वचनोंमें तनिक भी सन्देह मत करना। काम-गायत्री मेरी और मेरे प्राणवल्लभकी उपासनाका मन्त्र है। हमलोग मन्त्राक्षरके द्वारा भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं। मेरे अनुग्रहके बिना हम दोनोंको कोई भी जाननेमें समर्थ नहीं है। 'वर्णागमभास्वत्' नामक ग्रन्थमें अर्द्धाक्षरका निरूपण किया गया है, उसे देखकर ही श्रीकृष्णदास कविराजने काम-गायत्रीका स्वरूप-निर्णय किया है। तुम इसे देखकर श्रद्धालुओंके उपकारके लिए प्रकाशित करो।"

स्वयं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके इस आदेशका श्रवणकर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जग उठे। और 'हा राधे! हा राधे!' कहकर विलाप करने लगे। फिर धैर्य धारणकर उनकी आज्ञा पालनमें

तत्पर हो गये। श्रीमती राधिकाने अर्द्धाक्षर निर्णय करनेके विषयमें जो इङ्गित दिया था, उसके अनुसार उक्त मन्त्रमें 'वि' के पूर्व जो 'य' है, वही अर्द्धाक्षर है। उसके अलावा अन्य सभी अक्षर पूर्णाक्षर या पूर्णचन्द्र हैं।

श्रीमती राधिकाजीकी कृपासे मन्त्रका अर्थ अवगत होकर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने अपने इष्टदेवका साक्षात्-दर्शन किया तथा सिद्धदेहके द्वारा नित्यलीलामें परिकरत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होंने राधाकुण्डके तटपर श्रीगोकुलानन्द नामक श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठाकी तथा वहीं रहते समय श्रीवृन्दावनकी नित्यलीलाओंका माधुर्य अनुभवकर श्रील कविकर्णपूर द्वारा रचित श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः नामक ग्रन्थपर अपनी सुखवर्त्तिनी नामक टीकाकी रचना की।

राधापरस्तीरकुटीरवर्त्तिनः प्राप्तव्यवृन्दावन चक्रवर्त्तिनः।
आनन्दचम्पू विवृतिप्रवर्त्तिनः सान्तो-गतिर्म्मे सुमहानिवर्त्तिनः॥

अपनी परिणत वयस (वृद्धावस्था) में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अन्तर्दशा और अर्द्धबाह्य दशामें रहकर भजन करनेमें ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगे। उनके प्रधान शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण ही उनके स्थानपर शास्त्र-अध्यापनका कार्य करने लगे।

परकीयावादकी पुनर्स्थापना

श्रीधाम वृन्दावनमें षड्गोस्वामियोंका प्रभाव किञ्चित् क्षीण होनेपर स्वकीया और परकीयावादका मतभेद उठ खड़ा हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वकीयावादके भ्रमको दूर करनेके लिए सुसिद्धान्तपूर्ण 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा 'गोपीप्रेमामृत' नामक ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। तत्पश्चात् उन्होंने उज्ज्वलनीलमणिके 'लघुत्वमत्र' (१/२१) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका टीकामें शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्वकीयावादका खण्डनकर परकीया विचारकी स्थापना की है। श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने परकीया भावकी पुष्टि की है।

ऐसा कहा जाता है कि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीके समय कुछ पण्डितोंने परकीया उपासनाके विषयमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका विरोध किया था, किन्तु श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने अपनी प्रगाढ़ विद्वता तथा अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उन्हें परास्त कर दिया। तब ईष्यावशतः पण्डितोंने उन्हें जानसे मारनेका सङ्कल्प किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीवृन्दावनधामकी परिक्रमा करते थे। उन्होंने प्रभातकालीन अन्धकारमें श्रीधाम वृन्दावनकी परिक्रमा करते समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको किसी सघन अन्धकारपूर्ण कुञ्जमें जानसे मार डालनेकी योजना बनायी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके परिक्रमा करते-करते उक्त सघन कुञ्जके समीप पहुँचनेपर वहाँ विरोधियोंने श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको मारना चाहा, किन्तु अकस्मात् देखा कि वे वहाँ नहीं थे। अपितु उनके स्थानपर एक सुन्दर व्रजबालिका अपनी दो-तीन सहेलियोंके साथ पुष्पचयन कर रही थी। ऐसा देखकर पण्डितोंने उस बालिकासे पूछा—"लाली! अभी-अभी एक महात्मा इधर आ रहे थे, वे किधर गये? क्या तुमने उनको देखा है?" बालिकाने उत्तर दिया—"देखा तो था, किस ओर गये मुझे मालूम नहीं।" बालिकाके अद्भुत रूप-सौन्दर्य, कटाक्ष, भावभङ्गी और मन्द-मुस्कानको देखकर पण्डित समाज मुग्ध हो गया। उनके मनका सारा कल्मष दूर हो गया और उनका हृदय द्रवित हो गया। पण्डितोंके द्वारा परिचय पूछे जानेपर बालिकाने कहा, "मैं स्वामिनी श्रीमती राधिकाकी सहचरी हूँ। वे इस समय अपने ससुराल यावटमें विराजमान हैं। उन्होंने मुझे पुष्पचयन करनेके लिए भेजा है।" ऐसा कहते-कहते वे अन्तर्धान हो गयीं और फिर पण्डितोंने उस बालिकाके स्थानपर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको पुनः देखा। पण्डितोंने श्रील चक्रवर्ती ठाकुरजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की, चक्रवर्ती ठाकुरजीने उन्हें क्षमा कर दिया। श्रीचक्रवर्तीचरणके जीवनमें ऐसी बहुत-सी आश्चर्यपूर्ण घटनाएँ सुनी जाती हैं। इस प्रकार इन्होंने स्वकीयावादका खण्डनकर शुद्ध परकीया विचारकी स्थापना की। इनका यह कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जिस प्रकारसे श्रीगौड़ीय-वैष्णवधर्मकी मर्यादाकी रक्षाकर पुनः श्रीवृन्दावनमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवधर्मका प्रभाव स्थापित किया है, उसका विवेचन करनेसे उनकी अलौकिक प्रतिभासे विस्मित होना पड़ता है। उनके इस असाधारण कार्यके लिए किसी गौड़ीय-वैष्णवाचार्यने एक श्लोक लिखा है—

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्त्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत्॥

अर्थात् भक्तिपथके प्रदर्शक होनेके कारण वे विश्वके नाथ अर्थात् विश्वनाथ हैं तथा शुद्धभक्तचक्र (भक्तमण्डली) में सदा अवस्थित रहनेके कारण चक्रवर्ती हैं, अतएव उनका विश्वनाथ चक्रवर्ती नाम हुआ है।

वे लगभग १६७६ शकाब्दमें लगभग एक सौ वर्षकी आयुमें माघी शुक्ला पञ्चमी तिथिको अपनी अन्तर्दशाकी अवस्थामें श्रीवृन्दावनमें अप्रकट हुए। आज भी श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीगोकुलानन्द मन्दिरके निकट उनकी समाधि विराजमान है।

इन्होंने श्रील रूपगोस्वामीका पदाङ्क अनुसरणकर विपुल अप्राकृत भक्ति साहित्यका सृजनकर विश्वमें श्रीमन् महाप्रभुके मनोऽभीष्टको स्थापन किया है। साथ ही उन्होंने श्रीरूपानुग विरुद्ध कुसिद्धान्तोंका खण्डन भी किया है। इस प्रकार गौड़ीय-वैष्णव जगत्में ये परमोज्ज्वल आचार्य तथा प्रामाणिक महाजनके रूपमें ही प्रपूजित हुए हैं। ये अप्राकृत महादार्शनिक, अप्राकृत कवि और अप्राकृत रसिकभक्त तीनों रूपोंमें ही विख्यात हैं। कृष्णदास नामक एक वैष्णव पदकर्त्ताने श्रीलचक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित माधुर्यकादम्बिनीके पद्यानुवादके उपसंहारमें लिखा है—

माधुर्यकादम्बिनी-ग्रन्थ जगत कैल धन्य।
चक्रवर्ती-मुखे वक्ता आपनि श्रीकृष्णचैतन्य॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने 'माधुर्यकादम्बिनी' ग्रन्थकी रचनाकर समग्र जगत्को धन्य कर दिया। वास्तवमें श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु ही इस ग्रन्थके वक्ता हैं, वे ही श्रीचक्रवर्तीके मुखसे बोल रहे हैं।

केह कहेन—चक्रवर्ती श्रीरूपेर अवतार।
कठिन ये तत्त्व सरल करिते प्रचार॥

कुछ लोगोंका कहना है श्रीचक्रवर्ती ठाकुर श्रील रूप गोस्वामीके अवतार हैं। दूसरे शब्दोंमें, अत्यन्त सुकठिन तत्त्वोंको सहज सरल रूपमें वर्णन करनेके लिए श्रील रूप गोस्वामी ही पुनः श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके रूपमें अवतरित हुए हैं।

ओहे गुणनिधि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती।
कि जानिव तोमार गुण मुञि मूढ़मति॥

अहो! गुणोंके सागर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर! मैं अत्यन्त मूढ़ मतिवाला व्यक्ति कैसे आपके गुणोंको जान सकता हूँ। (अतएव आप कृपाकर अपने अप्राकृत गुणोंको मेरे हृदयमें स्फूर्ति करायें—आपके श्रीचरणोंमें ऐसी प्रार्थना है।)

गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी भाँति अनेकानेक ग्रन्थोंके लेखक बहुत कम ही आविर्भूत हुए हैं। अभी भी साधारण वैष्णव-समाजमें श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके तीन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें एक प्रवाद सुप्रचलित है—'किरण-बिन्दु-कणा, एइ तीन नियै वैष्णवपना।'

इन्होंने गौड़ीय-वैष्णव भक्तिसाहित्य-भण्डारकी अतुल-सम्पद्-स्वरूप जिन ग्रन्थों, टीकाओं और स्तवों आदिकी रचनाएँ की हैं, नीचे उनकी तालिका प्रस्तुत की जा रही है—

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि, (२) श्रीचमत्कारचन्द्रिका, (३) श्रीप्रेमसम्पुटः (खण्डकाव्यम्), (४) गीतावली, (५) सुबोधिनी (अलङ्कार-कौस्तुभटीका), (६) आनन्द-चन्द्रिका (उज्ज्वल-नीलमणिटीका), (७) श्रीगोपाल-तापनी टीका, (८) स्तवामृतलहरी धृत—(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम्, (ख) मन्त्रदातृ-गुरोरष्टकम्, (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्परगुरोरष्टकम्, (ङ) परमपरात्पर गुरोरष्टकम्, (च) श्रीलोकनाथाष्टकम्, (छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम्, (ज) श्रीस्वरूप-चरितामृतम्, (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम्, (ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम्, (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपीनाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम्, (ण) स्वयंभगवदष्टकम्,

(त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, (थ) जगन्मोहनाष्टकम्, (द) अनुरागवल्ली, (ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम्, (न) श्रीराधिका-ध्यानामृतम्, (प) श्रीरूपचिन्तामणिः, (फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम्, (ब) श्रीवृन्दावनाष्टकम्, (भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्, (म) श्रीसंकल्प-कल्पद्रुमः, (य) श्रीनिकुञ्जविरुदावली (विरुत्काव्य), (र) सुरतकथामृतम् (आर्यशतकम्), (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्। (९) श्रीकृष्णभावनामृतम् महाकाव्यम्, (१०) श्रीभागवतामृत-कणा, (११) श्रीउज्ज्वलनीलमणि-किरणः, (१२) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दुः, (१३) रागवर्त्म-चन्द्रिका, (१४) ऐश्वर्यकादम्बिनी (अप्राप्या), (१५) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी, (१६) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु टीका, (१७) श्रीउज्ज्वलनीलमणि टीका, (१८) दानकेलिकौमुदी टीका, (१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका, (२०) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण), (२१) ब्रह्मसंहिता टीका, (२२) श्रीमद्भगवद्गीताकी 'सारार्थवर्षिणी' टीका, (२३) श्रीमद्भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' टीका।

श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत श्रीगौड़ीयमठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आदि पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका बँगला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा, उत्साहदान और अहैतुकी कृपासे आज राष्ट्रीय भाषा हिन्दीमें जैवधर्म, श्रीचैतन्यशिक्षामृत, श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा, श्रीशिक्षाष्टक, भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु, उज्ज्वलनीलमणि-किरण, श्रीभागवतामृत-कणा, श्रीगीतगोविन्द, श्रीभजनरहस्य, श्रीगौड़ीय-गीतिगुच्छ, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीवेणुगीत, भक्तितत्त्व-विवेक, वैष्णव-सिद्धान्त-माला, श्रीब्रह्मसंहिता, रागवर्त्मचन्द्रिका, श्रीबृहद्भागवतामृत, गौड़ीय-कण्ठहार आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।

श्रील चक्रवर्ती ठाकुरका यह मूल ग्रन्थ संस्कृत भाषामें है। इसके बहुत-से संस्करण बँगला भाषामें प्रकाशित हुए हैं। उनमेंसे श्रीधाम वृन्दावन-निवासी श्रीहरिभक्त दास द्वारा अनूदित और सम्पादित 'श्रीप्रेमसम्पुट' ग्रन्थ अन्य बँगला संस्करणोंकी अपेक्षा कहीं अधिक

भावपूर्ण, सहज-सरल और बोधगम्य होनेसे यह हिन्दी संस्करण उसीके आधारपर अनूदित हुआ है। बँगलासे हिन्दी-अनुवादकर प्रतिलिपि प्रस्तुत करनेमें बेटी मधु खण्डेलवाल (एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰) तथा बेटी सविताकी, प्रूफ संशोधनके लिए श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज और श्रीओमप्रकाश व्रजवासी (एम॰ ए॰, एल॰ एल॰ बी), कम्पोजिंगके लिए बेटी वृन्दा देवी तथा ले-आऊटके लिए बेटी शान्ति दासीकी सेवा-प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और विशेष उल्लेखनीय हैं। मुखपृष्ठका चित्र श्रीमती श्यामरानी दासीने प्रस्तुत किया है तथा मुखपृष्ठका डिजाइन श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारीने किया है। श्रीनारायण दास अग्रवालने इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिए सम्पूर्ण अर्थ व्यय कर सहयोग दिया है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग गान्धर्विका-गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें—उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु, रसिक और भावुक तथा व्रजरसके प्रति लुब्ध रागानुगाभक्तिके साधकोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा। श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रेम-धर्ममें प्रवेश प्राप्त कर सकेंगे।

अन्तमें भगवत्-करुणाके घन-विग्रह परम आराध्यतम श्रील गुरुपादपद्म मेरे प्रति प्रचुर कृपा वर्षण करें, जिससे उनके मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ, यही उनके प्रेम प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

इस ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशनमें कुछ त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है। श्रद्धालु पाठकगण उसे संशोधन करके पाठ करेंगे और हमें सूचित करेंगे, जिससे अगले संस्करणमें हम उन त्रुटियोंका संशोधन कर सकें।

श्रीउत्थान एकादशी
५१९ श्रीचैतन्याब्द
१२ नवम्बर, २००५ ई॰

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेश प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीप्रेमसम्पुटः

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

प्रातः कदाचिदुररीकृत चारुरामा–
वेशो हरिः प्रियतमाभवनप्रघाने।
गत्वारुणांशुकतटेन पिधाय वक्त्रम्
नीचीन लोचनयुगः सहसावतस्थे॥१॥

भावानुवाद—प्रीतिका एक असाधारण स्वभाव यह होता है कि प्रणयिनी (प्रेमिका) के मुखसे नायककी प्रीतिका अपकर्ष (तुच्छता) तथा नायिकाकी प्रीतिका उत्कर्ष (श्रेष्ठता) श्रवण करनेकी लालसा नायकके हृदयमें स्वतः ही जाग्रत होती है। रसास्वादनके लम्पट व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर इसी स्वभावके वशीभूत होकर एक दिन प्रातःकाल एक मनोहारिणी, अपूर्व सुन्दर रमणीका वेष धारण करके वृषभानुदुलारी श्रीमती राधिकाके घरके प्राङ्गणमें उपस्थित हुए। उन्होंने अपने मुखकमलको अपने अरुण वस्त्रसे ढक रखा था तथा लज्जायुक्त भावसे अपने नयन-युगलको झुकाकर सहसा वहीं खड़े रहे।

श्रीरास-रात्रिके समय कालिन्दीके तटपर गोपियोंकी सभामें श्रीकृष्णने अपनी पराजय स्वीकार की तथा—"न पारयेऽहं निरवद्य संयुजाम्"—इस श्लोकमें प्रीतिकी जो मूलध्वनि उदित हुई थी, श्रीश्यामसुन्दर उसी भावसे विभावित हैं। प्रस्तुत 'श्रीप्रेमसम्पुट' ग्रन्थमें (नायक-नायिकाके) इन्हीं भावोंकी ध्वनि-प्रतिध्वनिका विशेष वर्णन है। निःसंकोच रूपमें प्रणय-मानसे उदित गर्वपूर्ण भाषाके श्रवणकी लालसा ही यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा रमणीवेष धारण करनेका हेतु है॥१॥

आराद्विलोक्य तमथो वृषभानुपुत्री
प्रोवाच हन्त ललिते! सखि! पश्य केयम्।
स्वस्यांशुभिर्हरिमणीमयतां निनाय
मत्सद्म पद्मवदनाद्भुत–भूषणाढ्या॥२॥

भावानुवाद—अनन्तर रमणीवेषधारी श्रीकृष्णका दूरसे ही दर्शन करके वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिका अपनी प्रिय सखी श्रीललिताको सम्बोधित करती हुई कहने लगीं—अरी सखि ललिते! देखो, देखो, यह रमणी कौन है? इसके मुखकमलकी कान्ति कमलकी शोभाका तिरस्कार कर रही है। यह विचित्र प्रकारके अलङ्कारोंसे विभूषित है और श्याम–अङ्ग–कान्ति छटासे हमारे भवनके प्राङ्गणको प्रकाशित कर रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो हमारा सारा भवन इन्द्रनीलमणिसे मण्डित हो गया है॥२॥

श्रुत्वा सखीगिरमथो ललिता विशाखे
तं प्रोचतुर्द्रुतमवाप्य तदाभिमुख्यम्।
का त्वं कृशोदरि! कुतः किमु वाथ कृत्यम्
ब्रूहीत्यसौ प्रतिवचस्तु ददौ न किञ्चित्॥३॥

भावानुवाद—तब श्रीललिता और श्रीविशाखा अपनी सखी श्रीराधिकाकी बात सुनकर अतिशीघ्र नारीवेषधारी श्रीकृष्णके सम्मुख पहुँचीं और कहने लगीं—अरी कृशोदरि (पतली कमरवाली)! तुम कौन हो? कहाँसे आ रही हो? तुम्हारे इस स्थानपर आनेका क्या प्रयोजन है? इन सब प्रश्नोंका उत्तर देकर तुम हमारे कौतूहलको दूर करो। किन्तु वहाँ आयी हुई उस रमणीने उनके किसी भी प्रश्नका उत्तर नहीं दिया॥३॥

श्रीराधिकाप्यथ वितर्क पुरःसरं तम्
पप्रच्छ कौतुकवशादुपगम्य सम्यक्।
का त्वं स्वरूपमहसैव मनोहरन्ती
देवाङ्गनासि किमहो सुषमेव मूर्त्ता॥४॥

भावानुवाद—सखियोंके प्रश्नोंपर उस रमणीको निरुत्तर देखकर श्रीराधिकाजी और भी कौतूहलवशतः मन-ही-मन विविध प्रकारके तर्क-वितर्क करते-करते रमणीवेषधारी श्रीकृष्णके समीप आ गयीं और पूछने लगीं—हे सुन्दरि! तुम कौन हो? तुम्हारी अङ्ग-कान्तिने हमलोगोंके मनका अपहरण कर लिया है। क्या तुम कोई देवकन्या हो? तुम्हें देखकर लगता है कि तुम इस जगत्‌की अखिल शोभाकी मूर्त्ति धारण करके हमारे सामने उपस्थित हुई हो॥४॥

तूष्णीं स्थितं तदपि तं पुनराहभावि-
न्यात्मानमाशु कथयात्र यदि त्वमागाः।
जानीहि नस्तव सखीः परमान्तरङ्गाः
किं शङ्कसे नतमुखिः! त्रपसेऽथ किम्वा॥५॥

भावानुवाद—फिर भी उस रमणीने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। तब श्रीराधिकाजी पूछने लगीं—अरी भाविनि (सुन्दर स्त्री)! यदि तुमने यहाँ आगमन किया ही है, तो शीघ्र अपना परिचय देकर हमारी उत्कण्ठा दूर करो। अरी लज्जाशीले! हमारे सामने तुम लज्जा या शङ्का मत करो, हमें तुम अपनी अन्तरङ्ग सखी ही समझो॥५॥

निश्वस्य कञ्चन विषादमिवाभिनीय
वक्त्रं विवृत्य तमखण्डित मौनमुद्रम्।
सा प्राह हन्त रुजमावहसीति सत्यम्
ज्ञातं न तामृत इहेदृशता तव स्यात्॥६॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाजीके इस प्रकारके वचन सुनकर भी रमणीवेषधारी श्रीकृष्ण दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कोई अनिर्वचनीय अभिनय करने लगे तथा अपने मुखकमलको घुमाकर मौन हो गये। श्रीराधिकाजी रमणीकी उस अवस्थाको देखकर पुनः उससे कहने लगीं—हे सुन्दरि! निश्चय ही तुम्हारे हृदयमें कोई वेदना है, ऐसा मैं समझ रही हूँ। यदि वेदना नहीं होती, तो तुम्हारा ऐसा भाव न होता॥६॥

तां ब्रूहि कञ्जमुखि! विश्वसिहि प्रकामम्
मय्येव तत् प्रतिकृतौ च यथा यतेय।
उद्गीर्ण एव सुहृदन्तिक एति शान्तिम्
यन्मानसव्रणविपाकज तीव्रदाहः ॥७॥

भावानुवाद—हे पद्मानने (कमलके समान मुखवाली)! अपनी इस वेदनाको निःसंकोच होकर स्पष्ट रूपसे हमें कहो। तुम हम पर पूरा विश्वास रखो। तुम्हारे दुःखको दूर करनेके लिए मैं यथासाध्य चेष्टा करनेमें त्रुटि नहीं करूँगी। विशेषतः आन्तरिक विषादरूप घावके पक जानेसे उत्पन्न असहनीय यातनाको अन्तरङ्ग सुहृदोंके समीप प्रकाश करनेसे उस वेदनाका उपशम होता है॥७॥

कान्तेन किं त्वमसि सम्प्रति विप्रयुक्ता
तस्यैव वा विगुणतोदयतः प्रतप्ता।
किं स्वागसस्तदविसह्यतया विभेसि
तत् किं नु कल्पितमहो पिशुनैर्नसत्यम्॥८॥

भावानुवाद—क्या तुम इस समय अपने प्रियतमसे रहित विरहिणी हो गयी हो? अथवा उस प्रियतमके किसी दोषको देखकर अत्यन्त सन्तप्त हो रही हो? अथवा तुमसे कोई बहुत बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण तुम्हारे प्रति तुम्हारे प्रियतमकी प्रीति भङ्ग हो जायेगी—इस आशङ्कासे डर रही हो? अथवा यद्यपि तुमने स्वयं कोई अन्याय नहीं किया। फिर भी कोई खल व्यक्ति तुम्हारे विरुद्ध तुम्हारे कान्तके पास मिथ्या अभियोग लगाकर प्रीतिको नष्ट करनेके लिए चेष्टा कर रहा है—क्या तुम इसीलिए व्यथित हो रही हो?॥८॥

किंवा विवोढ़रि मनः सघृणं तवाभू–
न्मन्दे रतं क्वचन पुंसिवरे दूरापे।
तत्त्वं कटूक्ति पटुना यत मादृशीव
सन्तर्ज्यसे गुरुजनेन ततोऽसि दूना॥९॥

भावानुवाद—अथवा जिनसे तुम्हारा विवाह हुआ है, वह मन्द अथवा दुर्भागा होनेके कारण तुम्हारा अभिप्रेत नहीं है, इसलिए तुम

उसके प्रति घृणा भावका पोषण कर रही हो? अथवा किसी एक परम दुर्लभ श्रेष्ठ पुरुषके प्रति तुम्हारा चित्त आसक्त हो गया है क्या? हाय! हाय! मैं जिस प्रकार तिरस्कार करनेमें निपुण गुरुजनोंके द्वारा तिरस्कृत हुई हूँ, उसी प्रकार तुम भी क्या अपने कटुवादी गुरुजनों द्वारा तिरस्कृत हुई हो? तथा क्या इसीलिए तुम इस प्रकारसे विषादका अनुभव कर रही हो?॥९॥

कच्चिन्नु तन्वि! खरवाक्शरविद्धमर्मा
सौभाग्यलेशमदिरान्धधियः सपत्न्याः।
सम्भाव्यते त्वयि नचैतदहो परा का
त्वत्तो वहत्वतुल सौभगचारुचर्च्चाम्॥१०॥

भावानुवाद—तथापि रमणीवेषधारी श्रीकृष्णको शान्त देखकर श्रीराधिका और भी अनेकों प्रकारकी आशङ्काएँ करके प्रश्न करने लगीं। वे बोलीं—अरी सुन्दरि! तुम्हारी सपत्नी (सौतन) क्या बिन्दुमात्र सौभाग्य-मदमें उन्मत्त होकर गर्वित हो रही है? इस कारण उसकी बुद्धि विकृत होनेसे क्या वह तीक्ष्ण वाक्य-वाणोंसे तुम्हारे हृदयको जर्जरित कर रही है? किन्तु तुम्हारे लिए तो वह सम्भव नहीं है, क्योंकि जगत्में तुमसे अधिक सौभाग्यशालिनी कोई रमणी होगी, मैं ऐसा नहीं समझती। अतएव तुम्हारी कोई सौतन होगी, इसकी भी सम्भावना नहीं है। इसका कारण है कि कोई भी पति तुम्हारे समान सर्वसद्गुणसम्पन्न स्त्रीका परित्याग करके अन्य स्त्रीसे विवाह क्यों करेगा?॥१०॥

त्वं मोहिनी श्रुतचरी किमु मोहनार्थम्
शम्भोरिवेन्दुमुखि! कस्य हठादुदेषि।
किञ्चेक्षते यदि हरिस्तदपाङ्गविद्ध-
स्त्वां कौतुकं भवति तद्व्यतिमोहनाख्यम्॥११॥

भावानुवाद—अरी चन्द्रमुखि! हमने भगवती पौर्णमासीदेवीके मुखसे सुना है कि मोहिनी नामक श्रीभगवान्‌का एक अवतार हुआ था। उसने अपने असामान्य रूप-लावण्यसे श्रीमहादेव तक को भी

विमोहित कर दिया था। क्या तुम वही मोहिनी हो? तुम अपनी इस रूपराशिसे किसे विमोहित करनेके लिए सहसा उदित हुई हो? मुझे जरा बतलाओ तो। उस समय तुमने श्रीमहादेवको विमोहित किया था, यह सत्य है, किन्तु तुम स्वयं मुग्धा नहीं हुईं थीं। किन्तु अब तुम्हारे कटाक्ष-वाणसे विद्ध होकर श्रीहरि यदि तुम्हारे प्रति कटाक्ष निक्षेप करें, तो तुम भी अत्यधिक मुग्ध हो जाओगी। अर्थात् तुम्हारे और हमारे नागरेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण—दोनोंके ही रूपकी कोई तुलना नहीं है। अतएव परस्पर दर्शनसे तुमलोग आत्म-गाम्भीरताके बन्धनका उल्लंघनकर एक-दूसरेके रूपसे आकृष्ट हो जाओगे। उस समय तुम्हारे परस्पर आकर्षणसे एक अपूर्व कौतुक-रसका आविर्भाव होगा॥११॥

श्रुत्वोत्तरीय-परियन्त्रित सर्वगात्रम्
रोमाञ्चितं तमुपलभ्य जगाद राधा।
हा किं सखि! त्वमसि दैहिकदुःखदूना
वक्षोऽथ पृष्ठमथवा व्यथते शिरस्ते॥१२॥

भावानुवाद—इस प्रकार उत्सुक-चित्तमयी श्रीराधिकाके मुखकमलसे निकली मधुर वचन-सुधाका पान करते-करते देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णके चित्तमें एकजातीय (एक तरफा) सम्भोगरसका आस्वादन होने लगा तथा उस आस्वादनके अनुभावस्वरूप उनके श्रीअङ्गमें जो रोमाञ्च प्रकाशित होने लगा उसे गोपन करनेके लिए वे अपने उत्तरीय वस्त्र द्वारा अपने समस्त अङ्गोंको ढकने लगे। उन्हें अपना शरीर ढकते देखकर श्रीराधिका उनके दैहिक रोगका अनुमान करते हुए बोलीं—अरी सखि! तुम क्या अपने शरीरमें किसी रोगका अनुभव कर रही हो? तुम्हारे वक्षःस्थलमें, पीठमें अथवा मस्तकमें क्या कोई पीड़ा है?॥१२॥

वात्सल्यतः पितृपदैर्बहुमूल्यमेव
प्रस्थापितं यदखिलामय-शातनाख्यम्।
तैलं तदस्ति भवनान्तरतो विशाखे!
शीघ्रं समानय तदापय सार्थकत्वम्॥१३॥

भावानुवाद—श्रीराधिका इस प्रकार उसके रोगका अनुमान करती हुई सखी विशाखासे कहने लगी—अरी विशाखे! पूजनीय पिताने मेरे प्रति वात्सल्यके कारण सर्व रोग-विनाशक जो बहुमूल्य तेल भेजा था, वह घरमें रखा है, तुम उसे शीघ्र लेकर आ जाओ। इससे मेरा तेल भी सार्थक हो जायेगा। प्रीतिका यह स्वभाव है कि यदि प्रियजनोंके लिए अपनी निजी वस्तुका व्यवहार किया जाये तो ऐसा लगता है कि वह वस्तु सार्थक हो गयी है॥१३॥

तैलेन तेन किल मूर्त्तिमता मदीय–
स्नेहेन सुभ्रुवमिमां स्वयमेव साहम्।
अभ्यञ्जयाम्यखिलगात्रमपास्ततोदम्
नैपुण्यतः सखि! शिरो मृदु मर्दयामि॥१४॥

भावानुवाद—सखि विशाखे! मुझे इस नई सखीके प्रति अत्यन्त प्रेम हो गया है। मेरे प्रति पिताका जो स्नेह है, वह इस तेलके रूपमें मूर्त्तिमान होकर विराजित है। अतएव इस सर्वरोगहारी तेलको मैं स्वयं अपने हाथोंसे इस सुन्दरीके सर्वाङ्गमें मर्दन कर दूँगी। इसके द्वारा इस देवीकी सारी पीड़ा दूर हो जायेगी। इसके मस्तकपर भी अत्यन्त निपुणताके साथ तेलका मर्दन करूँगी, जिससे इसके समस्त रोगका उपचार हो जायेगा॥१४॥

नैरुज्यकारिवरसौरभवस्तुवृन्द–
प्रक्षेपचारुतरकोष्णपयोभिरेणाम् ।
संस्नापयामि विगतारुषमास्यपद्म–
मुल्लासयाम्यथ गिरापि विराजयामि॥१५॥

भावानुवाद—और देखो! रोगको दूर करनेवाली उत्कृष्ट-सुगन्धयुक्त वस्तुओंको डालकर सुख प्रदान करनेवाला गुनगुना जल ले आओ। उस सुगन्धित गुनगुने जलसे इसे भलीभाँति स्नान कराकर मैं इसकी पीड़ाको दूरकर इसके मुखकमलको उल्लसित करूँगी। तभी यह मेरे साथ वार्त्तालाप करेगी॥१५॥

वाचा मया मृदुलयातिहितप्रवृत्त्या
स्नेहेन चानुपाधिना परमादृतापि।
नो वक्ति किञ्चिदधुनैव कटूकृतास्या
तिष्ठेदियं कपटिनी यदिहन्त सख्यः॥१६॥

भावानुवाद—हे सखियो! मैंने इसके साथ इतनी कोमल और मीठी बातें कीं, स्वयं इसके तेल-मर्दनादि हितकर-कार्योंमें प्रवृत्त होनेके लिए भी प्रस्तुत हुई तथा निष्कपट स्नेहके साथ इसका कितना आदर भी किया, तथापि इसके मुखसे एक बात भी सुन नहीं सकी। यह अब तक कपटतापूर्वक अपने रोगकी बात न कहकर उदास-मुख होकर बैठी हुई है॥१६॥

अस्या रुजस्तदपरां करवै चिकित्साम्
यां प्राप्य तन्वसुमनो-निखिलेन्द्रियाणाम्।
व्याधिः प्रशाम्यति भवेदतिपुष्टिरेषाम्
धन्वन्तरिप्रहित-दिव्यरसैरिवाद्धा ॥१७॥

भावानुवाद—अब मैं इस सुन्दरीके रोगकी दूसरी एक नवीन (नयी) चिकित्सा करूँगी। धन्वन्तरि द्वारा प्रदान की गयी दिव्य-रस-रूप औषधि द्वारा जिस प्रकार समस्त रोगोंकी शान्ति होती है, उसी प्रकार इस चिकित्सा द्वारा इसके देह, प्राण, मन तथा इन्द्रियोंसे सम्बन्धित समस्त रोगोंकी उसी क्षण ही शान्ति हो जायेगी। विशेषतः इसके द्वारा देहादिकी अत्यधिक पुष्टि भी होगी॥१७॥

कुञ्जाधिराजकरकञ्जतलाभिमर्ष-
मस्या उरस्यतितरां यदि कारयामि।
सेयं हसिष्यति वदिष्यति सीत्करिष्य-
त्यस्मांश्च हासयितुमेष्यति काञ्चिदाभाम्॥१८॥

भावानुवाद—उस नयी चिकित्साके विषयमें बतला रहीं हूँ, सुनो। यह सखी जो अब तक एक भी बात कहनेमें अक्षम है तथा इस प्रकार असाध्य रोग द्वारा आक्रान्त होकर बैठी है, यदि हमारे कुञ्जके अधीश्वरके करकमल-तल द्वारा इसके वक्षःस्थलका सम्यक् रूपसे

स्पर्श करा दिया जाये, तो फिर यही सखी हँसेगी, बात करने लगेगी तथा सिसकारी भरेगी। अर्थात् रसिकशेखर श्रीकृष्णके हस्त-स्पर्श रूप अनिर्वचनीय सुखका जब इसे अनुभव होगा, तब यह अव्यक्त शब्द करने लगेगी। अधिक क्या कहूँ, फिर किसी एक ऐसी कान्तिको धारण करेगी कि हमें भी निरन्तर हँसायेगी। अर्थात् इसकी देहमें श्रीकृष्ण-सम्भोगसे उत्पन्न समस्त चिह्न तथा उनके स्पर्शसे असाधारण समस्त अनुभावोंको प्रकाशित करेगी। हमारे लिए तो यही आनन्दका कारण होगा॥१८॥

श्रुत्वा गिरं स पिहितस्मितहास्यपद्म-
मुन्नीय रम्यतरसव्यकराङ्गुलीभिः।
उत्सार्य किञ्चिदलकानवगुण्ठनञ्च
न्यञ्चत्तरं कियदुदञ्चयति स मूर्द्धनः॥१९॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाके इन वचनोंको सुनकर देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णके मुखपर मन्द हास्य उदित हो आया—उसे गोपन करके उन्होंने अपने झुके हुए मुखकमलको किञ्चित् उठाकर अपने बायें हाथकी मनोहर अङ्गुलियों द्वारा ललाटके ऊपर गिरी अलकावलीको जरासा हटा दिया तथा मस्तकके अवगुण्ठन (घूँघट) को थोड़ा-सा ऊपर कर दिया॥१९॥

किञ्चिज्जगाद रमणी-रमणीय कण्ठ-
सौस्वर्यमेव रचयन् वचनं यदेषः।
सा तच्चकोरललनेव पपौ चिराय
काञ्चिच्चमत्कृतिमवाप च सालिपालिः॥२०॥

भावानुवाद—तब देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णने रमणीके कण्ठ-स्वरके समान रमणीय, अति मधुर स्वरमें जो कुछ वचनामृत वर्षण किया था, श्रीराधिकाने सखियोंके साथ चकोरीके समान उत्सुक चित्तसे उन समस्त वचन-सुधाका पान करके परमानन्द प्राप्त किया और साथ-ही-साथ किसी अनिर्वचनीय चमत्कृतिकी भी उपलब्धि की। श्रीकृष्णके वचनोंसे उन्हें जिस प्रकारका आनन्द प्राप्त होता था, इस

नवागता (नयी आयी) सुन्दरीके मधुर वचनोंसे भी उसी प्रकारका आस्वादन हो रहा था॥२०॥

देव्यस्मि नाकवसतिः शृणु यस्य हेतो–
स्त्वामगमं सुवदने विधुरीकृतात्मा।
कुत्रापि मे विविदिषास्ति विवक्षितेऽर्थे
सम्पादयिष्यति परा त्वदृते कुतस्ताम्॥२१॥

भावानुवाद—वह नवागता सखी कहने लगीं—अरी सुन्दरी श्रीराधे! मैं स्वर्गवासिनी एक देवी हूँ। मैं व्याकुल चित्तसे किसलिए तुम्हारे समीप आयी हूँ, उसे श्रवण करो। किसी एक अभिलषित विषयमें मेरी कुछ जाननेकी इच्छा है। मेरी यह इच्छा तुम्हारे अलावा अन्य कोई किस प्रकारसे पूर्ण कर सकता है?॥२१॥

नैवाभ्यधास्त्वमनृतं यदुदेषि देवी–
त्यस्माभिरित्थमधुनैव हि पर्यचेष्ठाः।
यन्मानुषीषु कतमास्ति भवत्सदृक्षा
कान्त्यानयानुपमया त्वमिवेक्षसे त्वम्॥२२॥

भावानुवाद—यह सुनकर श्रीराधिका बोलीं—सुन्दरि! तुमने जो अपना देवी कहकर परिचय दिया, वह मिथ्या नहीं है। मैंने तो तुम्हारे कहनेसे पहले ही तुम्हारे देवी होनेका अनुमान लगा लिया था, क्योंकि इस मर्त्यलोककी नारियोंमें तुम्हारे समान सौन्दर्य किसका है? तुम्हारे रूपकी कोई तुलना नहीं है। तुम अनुपम रूपवती हो, तुम्हारी तुलना केवल तुम ही हो॥२२॥

यत्त्वय्यहं सरलधीर्वितथं वितर्क–
वैविध्यमप्यकरवं शरदम्बुजास्ये।
तत् पर्यहासिषमितोऽस्तु न मेऽपराध–
स्त्वं स्निह्यसीह मयि यद्यभवं त्वदीया॥२३॥

भावानुवाद—अरी शरत्–कमलानने (शरत्–कमलके समान मुखवाली)! मैं जो तुम्हारे साथ—तुम क्या पति–विरहिणी हो? इत्यादि बहुत प्रकारसे वितर्क कर रही थी, वह तो वास्तवमें सरल चित्तसे

परिहासपूर्वक कह रही थी। अतएव उसके लिए मेरा कोई अपराध ग्रहण मत करना। जब तुम मेरे प्रति स्नेहवती हो, तो फिर मैं भी तुम्हारी ही हो गयी हूँ॥२३॥

किं सङ्कुचस्ययि सखी त्वमभूस्त्वदीयो
देवीजनोऽप्यहमभूवमिति प्रतीहि।
त्वत् प्रेमरूपगुणसिन्धुकणानुभूते-
र्दासीभवाम्यहमपीति सदाभिमन्ये॥२४॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—हे श्रीराधे! तुम मेरी सखी हो, अतएव तुम क्यों इस प्रकार संकुचित हो रही हो? मैं देवी होकर भी तुम्हारे अधीन हो गयी हूँ, ऐसा विश्वास करो। तुम्हारे प्रेम, रूप तथा गुण-समुद्रके मात्र एक कणका अनुभव करके तुम्हारी दासी होनेके लिए मेरी निरन्तर इच्छा हो रही है॥२४॥

यद् वच्म्यहं तदवधेहि यतो विषादो
दुर्वार एष तमपाकुरु संशयं मे।
नैवाधुनापि विरराम दरापि हृद्गुः
तापस्त्वदीय-लपनामृत-सेकतोऽपि॥२५॥

भावानुवाद—अब मेरे प्राणोंकी वेदनाओंको ध्यानपूर्वक सुनो। जिस कारणसे मेरा यह दुर्निवार विषाद उपस्थित हुआ है, तुम मेरे उस संशयको दूर करो। इतने समय तक तुम्हारी कथारूप अमृतके द्वारा सिञ्चत होनेपर भी मेरे हृदयका सन्ताप किञ्चित्मात्र भी दूर नहीं हुआ है॥२५॥

वृन्दावने ध्वनति यः सखि! कृष्णवेणु-
स्तद्विक्रमः सुरपुरे प्रबलत्वमेति।
साध्वीततेरपि मनः सघृणं यतोऽभूत्
कण्ठोपकण्ठमिलन स्मरणेऽपि पत्युः॥२६॥

भावानुवाद—हे सखि! इस श्रीवृन्दावनमें जो वंशीध्वनि है, उसका प्रभाव हमारे स्वर्ग राज्यमें भी प्रवेश करके इतना प्रबल हो गया है

कि वहाँकी साध्वी रमणियाँ पतिका कण्ठालिङ्गन करना तो दूरकी बात, उनका स्मरण होनेपर भी अपने मनमें घृणा अनुभव करने लगती हैं। अर्थात् उस समय निखिल जगत्-पति श्रीकृष्ण उनके चित्तको आकृष्ट कर लेते हैं और अन्य प्राकृत पतियोंके प्रति उनका मन धावित ही नहीं होता है। श्रीकृष्णसम्बन्धित वस्तुमात्रमें ही इस प्रकारका सामर्थ्य होता है कि उससे बिन्दुमात्र सम्बन्ध होनेपर किसी भी प्राकृत वस्तुके प्रति भोग-वासना उस सम्बन्धका स्थान नहीं ले सकती॥२६॥

श्लिष्ट्वेव मुञ्चति सुरः सवितर्कमात्म-
कान्तां द्रुतं ज्वलदलात-निभाङ्गयष्टिम्।
हालाहलं मुरलिका-निनदामृतं यत्
पीत्वैव सातनुमहाज्वरमूर्च्छिताभूत्॥२७॥

भावानुवाद—वह वंशीध्वनि तीव्र कालकूट विषसे मिश्रित अमृतके समान मधुर है। अर्थात् श्रवणकालमें अमृत-आस्वादनके समान अपूर्व सुखकी उपलब्धि होती है, किन्तु बादमें श्रीकृष्णकी अप्राप्ति तीव्र दुःखदायक होनेके कारण विषके समान पीड़ा देती है। इस ध्वनिके कर्णमें प्रवेश करनेमात्रसे ही देवाङ्गनाएँ श्रीकृष्णका सम्यक् प्रकारसे उपभोग करनेकी लालसासे कन्दर्प (काम) के महाज्वरसे इस प्रकार मोहको प्राप्त हो जाती हैं कि उनके शरीर प्रज्वलित अङ्गारेके समान अत्यधिक तप्त हो जाते हैं। इस अवस्थामें उनके पति जब उनकी वैसी उतप्त देहका आलिङ्गन करते हैं, तब "अहो! अकस्मात् इसे न जाने कौन-सा महाज्वररूप रोग लग गया है" इत्यादि वितर्क करके शीघ्र ही उनका परित्याग कर देते हैं। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिका ऐसा सामर्थ्य है कि श्रवणके साथ-ही-साथ श्रवणकारीके हृदयमें श्रीकृष्णके साथ मिलनेकी लालसा उदित कराकर उसे व्याकुल कर देती है॥२७॥

अस्मत्पुरेऽस्ति न हि कापि जरत्यतः का-
स्तर्जन्तु का नु निखिला अपि तुल्यधर्माः।

का वा हसेयुरपरा यदिमाः सतीत्वम्
विप्लावयन् मुरलिका निनदो व्यजेष्ट॥२८॥

भावानुवाद—हमारी स्वर्गपुरीका एक नाम त्रिदशालय है, अर्थात् उस स्थानपर बाल्य, कैशोर तथा यौवन—इन तीन दशाओं (अवस्थाओं) के अलावा वृद्धावस्था किसीको नहीं होती। अतएव वहाँ किसी भी रमणीके वृद्धा नहीं होनेके कारण, वंशीध्वनिके श्रवणसे सारी रमणियोंकी एक ही प्रकारकी अवस्था होती है। अतएव कौन किसका तिरस्कार करेगी तथा कौन किसका उपहास करेगी? यह मुरलीका शब्द स्वर्गकी नारियोंके सतीत्व-धर्मका ध्वंस करके उन सभीको पराजित कर देता है॥२८॥

एवं यदि प्रववृते प्रतिवासरं स
वेणुध्वनिः प्रभवितुं विवुधाङ्गनासु।
तर्ह्येकदा हृदि मयैव विचारितं हा
कोऽयं कुतश्चरति वादयितास्य को वा॥२९॥

भावानुवाद—इस प्रकार जब प्रतिदिन वह वंशीध्वनि स्वर्गकी देवियोंपर निरन्तर अपने प्रभावका विस्तार करनेके लिए प्रवृत्त होने लगी, उस समय एक दिन मैंने आश्चर्यपूर्वक मन-ही-मन विचार किया—हाय! यह किसकी वेणुध्वनि है? यह मधुर ध्वनि कहाँसे उदित हुई है और इस ध्वनिको करनेवाला कौन है?॥२९॥

इत्थं दिवः समवतीर्य भुवीह साधु
वंशीवटेऽवसमहं कतिचिद्दिनानि।
दृष्टो हरेरनुपमो विविधो विलासः
कान्तागणः प्रियसखाल्यपि पर्यचायि॥३०॥

भावानुवाद—इन सब बातोंका विचार करके इस वंशीध्वनिका अनुसरण करते हुए मैंने स्वर्गसे भूमण्डलपर अवतरण किया है तथा कुछ दिनोंसे मैं वंशीवटपर सुखपूर्वक वास कर रही हूँ। मैंने तुम्हारे साथ श्रीकृष्णके जो सब विविध अनुपम लीला-विलासादि हैं, उन्हें अपनी आँखोंसे देखा है तथा उनकी कान्ता और प्रिय सखियोंसे भी परिचित हुई हूँ॥३०॥

राधा सनर्म मधुराक्षरमाह धन्ये!
त्वं गण्यसे सुरपुरे वरचातुरीभाक्।
अन्या पुनर्बलवदुत्कलिकाकृपाणी
कृत्तेन्द्रियैव सुमनस्त्वमपादपार्थम्॥३१॥

भावानुवाद—देवरूपी श्रीकृष्णकी बात सुनकर श्रीराधाने परिहासयुक्त सुमधुर वाक्य द्वारा कहा—"अहो धन्य! मुझे लगता है कि स्वर्गपुरीमें रहनेवाली अन्यान्य समस्त देवियोंकी अपेक्षा तुम ही सर्वाधिक चतुर हो क्योंकि केवल तुमने ही अपनी तीव्र उत्कण्ठारूपी तलवार द्वारा छिन्न इन्द्रिय होकर उस वेणुध्वनिके मूल कारणको ढूँढ़नेकी चेष्टा की है, अन्य किसी रमणीने नहीं। अतएव तुम ही सुमन हो, अर्थात् तुम्हारा मन ही सुन्दर है। (अर्थात् मेरी भाँति ही तुम परपुरुष श्रीकृष्णमें आसक्त हुई हो, इसलिए सुमन हो।)"

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठासे यद्यपि उनका भी मन स्थिर नहीं है और वे सदैव विषयभावसे अनेक प्रकारकी यन्त्रणाएँ भी भोग कर रही है, तथापि अपनी उत्कण्ठाकी निवृत्तिके लिए किसी उपायकी चिन्ता नहीं कर रही, इसलिए उनका सुमना अर्थात् 'सुन्दर मनवाली' यह नाम व्यर्थ है। दूसरी ओर तुम उत्कण्ठा उत्पन्न होनेके साथ-ही-साथ उसकी निवृत्तिकी लालसासे इस स्थानपर आकर उपस्थित हुई हो, अतएव वास्तवमें तुम ही सुमना हो, सुमना नाम धारण करना तुम्हें ही शोभा देता है, तुम ही धन्य हो॥३१॥

मन्दभ्रमद्भ्रु मधुरस्मितकान्तिधारा-
धौते विधाय रदनच्छदने स चाह।
राधे! परां स्वसदृशीं नहि विद्धि किं भोः
शक्येऽवलोकितुमपीह परेण पुंसा॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीराधाके मधुर परिहासपूर्ण वचनोंको सुनकर देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण मधुर हास्य-कान्ति द्वारा अपने ओठोंको धौते हुए मन्द-मन्द भ्रू-नर्तनके साथ बोले—राधे! परनारीको अपने समान मत समझना। अर्थात् तुम जिस प्रकार परपुरुष श्रीकृष्णमें

आसक्त हुई हो, मुझे भी वैसी मत समझ लेना। क्या परपुरुष श्रीकृष्ण मुझे यहाँ देखनेमें भी समर्थ हो सकते हैं?॥३२॥

किंवा परेण पुरुषेण हरेर्विलास–
मेवान्वभू रहसि साधु यदर्थमागाः।
तद्ब्रूहि किं तव विवक्षितमत्र मध्ये
नर्मातनोमि यदि मामकरोः सखीं स्वाम्॥३३॥

भावानुवाद—तब श्रीराधिकाजी बोलीं—तुमने जिस कारणसे इस स्थानपर आगमन किया है, उस श्रीकृष्णके विलासका एकान्तमें अनुभव करो, तुम्हारा परपुरुषसे प्रयोजन क्या है? जैसा भी हो, अब तुम बोलो तुम्हें मुझसे क्या पूछना है? अब तक जो मैंने तुमसे परिहासादि किया, वह केवल इसलिए कि तुमने मुझे अपनी सखी मानकर अङ्गीकार किया है॥३३॥

नर्मातनुध्व सखि! नर्मणि का जयेत्ताम्
प्राणास्त्वभूस्त्वमयि मे कियदेव सख्यम्।
त्वं मानुषी भवसि किन्त्वमराङ्गणास्ता
मूर्द्ध्नैव ते गुणकथा पुणतीर्नमन्ति॥३४॥

भावानुवाद—देवाङ्गना–वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—सखि! तुम परिहास करो, परिहासमें तुम्हें कौन पराजित कर सकता है? अरी राधे! तुम मेरी सखी हो, यह अति सामान्य बात है, अपितु तुम तो मेरे प्राणोंके समान प्रियतमा हो। यह सत्य है कि तुम मानुषी हो, किन्तु देववधुएँ भी तुम्हारी पवित्रकारी गुण–कथाओंको नत मस्तक होकर प्रणाम करती हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीराधिका लीलारस–आस्वादनकी लालसासे मानवी रूपसे प्रकट होकर विहार कर रही हैं, तथापि वस्तुतः वे साधारण प्राकृत मानवी नहीं हैं। वे अनन्त श्रीभगवत्–अवतारोंके मूल अवतारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्ण–शक्ति–स्वरूपिणी हैं। अतएव उन श्रीराधिकाकी गुण–कथाओंको यदि देवाङ्गनाएँ आदि भी प्रणाम करती हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या है? श्रीमद्भागवतके

दशमस्कन्धके प्रथम अध्यायके श्लोक संख्या १७ से २३ तक में श्रीलशुकदेव गोस्वामीने भी इसी भावके अनुसार श्रीकृष्णके आविर्भाव प्रसङ्गका वर्णन करते हुए कहा था—राजाओंका वेश धारण करनेवाले कपटी दैत्योंके अत्याचारसे प्रपीड़ित होकर धरिणी (पृथ्वी) ने एकबार जब गायका रूप धारण करके करुणस्वरसे क्रन्दन करते-करते श्रीब्रह्माके निकट अपने दुर्भाग्यका निवेदन किया था। तब उसके दुःखपूर्ण वृत्तान्तको श्रवण करके श्रीब्रह्मा अन्यान्य देवताओं सहित उसे लेकर क्षीरसागरके तटपर गये थे। जहाँ क्षीरोदकशायी महापुरुषने समाधिस्थ ब्रह्माजीसे कहा था कि 'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः' अर्थात् देवस्त्रियाँ श्रीकृष्ण और उनकी प्रियाओंकी प्रीति सम्पादन करनेके लिए व्रजमें जन्म ग्रहण करें। अतएव दासी योग्य देववधुओंका प्रणाम अयौक्तिक (युक्तिरहित) नहीं है॥३४॥

नेयं स्तुतिस्तव न चापि तटस्थता मे
नापि ह्रियं भज वदाम्यनृतं न किञ्चित्।
सिन्धोः सुतापि गिरिजापि न ते तुलायाम्
सौन्दर्य-सौभगगुणैरधिरोढुमीष्टे ॥३५॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण और भी बोले—सखि! मैं यह समस्त अतिरञ्जित (अलङ्कारयुक्त) वचन तुम्हारी स्तुति करते हुए नहीं कह रही हूँ, अथवा तुम्हारे प्रति उदासीनतावशतः परिहास करते हुए भी नहीं कह रही हूँ। अतः तुम लज्जित मत होओ। मैं कभी भी मिथ्या वचन नहीं बोलूँगी। समुद्र-कन्या श्रीलक्ष्मी तथा पार्वती तक भी सौन्दर्य और सौभाग्यादि गुणोंमें तुम्हारे समान नहीं हैं।

इस प्रकारके वचन श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ८/१८२-१८४) में श्रीगौराङ्गसुन्दरके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीराय रामानन्दने कहा है—

याहाँर सौभाग्य-गुण वाञ्छे सत्यभामा।
याँर ठाँञि कलाविलास शिखे व्रज-रामा॥
याँर सौन्दर्यादि गुण वाञ्छे लक्ष्मी पार्वती।
याँर पतिव्रताधर्म वाञ्छे अरुन्धती॥

याँर सद्गुण-गणने कृष्ण ना पाय पार।
ताँर गुण गणिबे केमने जीव छार?॥

इन पयारोंमें दिखाया गया है कि श्रीलक्ष्मी और पार्वती भी श्रीराधाके सौन्दर्यादि गुणोंकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना करती हैं।

श्रील रूप गोस्वामीने श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थके 'श्रीहरिप्रिया' प्रकरण (३/१८) में कहा है—

रागोल्लास-विलङ्घितार्यपदवी विश्रान्तयोऽप्युद्धर-
श्रद्धारज्यदरुन्धती-मुखसतीवृन्देन वन्द्येहिता।
आरण्या अपि माधुरी परिमलव्याक्षिप्त-लक्ष्मीश्रिय-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखम्॥

यद्यपि श्रीव्रजसुन्दरियाँ रागोल्लासके वशीभूत होकर आर्यपथका उल्लंघन करती हैं, तथापि अरुन्धती आदि सती रमणियाँ भी परम श्रद्धाके साथ उन व्रजगोपियोंके समस्त आचरणोंकी वन्दना करती हैं। व्रजरमणियाँ वनवासिनी होनेपर भी अपने माधुर्य-परिमाणके द्वारा वैकुण्ठकी अधीश्वरी श्रीलक्ष्मीकी शोभाको तिरस्कृत करती हैं। त्रिजगत्में विलक्षण ऐसी श्रीकृष्ण-वल्लभाएँ आपलोगोंका सुख विधान करें।

प्रस्तुत श्लोकमें यह उल्लिखित हुआ है कि श्रीराधाके माधुर्यादिके सम्मुख श्रीलक्ष्मीका सौन्दर्य तिरस्कृत है। इसका कारण यह है कि श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठ प्रियतमा हैं। श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें चित्-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति प्रधान हैं। चित्-शक्ति अन्तरङ्गा, मायाशक्ति बहिरङ्गा और जीवशक्ति तटस्था है। इन तीन शक्तियोंमें अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति प्रधान है। सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति तीन भागोंमें विभक्त है। आनन्द अंशसे ह्लादिनी, सत् अंशसे सन्धिनी और चित् अंशसे संविद् अर्थात् ज्ञान। श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेवाली ह्लादिनीशक्तिके सार अंशका नाम प्रेम है। प्रेमका परमसार महाभाव है। श्रीराधिका महाभावस्वरूपिणी हैं, वे श्रीकृष्ण-प्रेयसियोंमें श्रेष्ठतम हैं। जिस प्रकार मूल अवतारी

श्रीकृष्णसे अनन्त श्रीभगवत्-अवतारोंका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार श्रीराधिकासे तीन प्रकारकी कान्ताओंका अर्थात् व्रजकी गोपियोंका, पुरकी महिषियोंका और सभी श्रीभगवत्-धामकी लक्ष्मियोंका विस्तार होता है। श्रीराधाजी इन तीनोंकी ही मूल अंशिनी हैं। श्रील कविराज गोस्वामीने बृहद्गौतमीयतन्त्रसे उद्धृत कर कहा है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

इस श्लोकको व्याख्यामें कहा गया है—

सर्वलक्ष्मीगणेर तिँहो हन अधिष्ठान॥
सर्व सौन्दर्य-कान्ति वैसये याँहाते।
सर्वलक्ष्मीगणेर शोभा हय याँहा हैते॥
(चै॰ च॰ आ॰ ४/९०, ९२)

इन समस्त प्रमाणोंके द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि श्रीलक्ष्मी अथवा श्रीपार्वती, सौभाग्यादि गुणोंमें श्रीराधिकाके समान नहीं है॥३५॥

प्रेम्ना पुनस्त्रिजगदूर्ध्व-पदेऽपि काचित्
तत्साम्य साहसधुरं मनसापि वोढुम्।
शक्नोति नेत्यखिलमेव मया श्रुतं तत्
कैलासशृङ्गमनु हैमवतीसभायाम्॥३६॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—कुछ और भी बतला रही हूँ, सुनो! त्रिजगत्से ऊपरस्थित लोकोंमें भी अर्थात् परव्योमस्थ वैकुण्ठादि लोकोंमें भी ऐसी कौन रमणी है, जो तुम्हारे समान प्रेमवती होनेका साहस कर सके अथवा मनमें भी तुम्हारी बराबरी करनेकी सोच सके? तुम्हारी ये सब गुण-गाथाएँ मैंने कैलाश पर्वतके शिखरपर पार्वतीदेवीकी सभामें सुनी है। अतः ये मेरे अपने कपोल-कल्पित वचन नहीं हैं॥३६॥

श्रुत्वा महानजनि मे मनसोऽभिलाष-
स्तद्दर्शनाय सम्पूरि स चापि किन्तु।

तापतदन्तरिह यो रभसाददीपि
तेनास्फुटन्न कठिनो हि ममान्तरात्मा॥३७॥

भावानुवाद—तुम्हारे गुणोंका वर्णन सुनकर तुम्हारा साक्षात् दर्शन करनेके लिए मेरे मनमें अत्यधिक अभिलाषा थी। तुम्हारा दर्शन पाकर सचमुच मेरी वह अभिलाषा तो पूर्ण हो गयी है, किन्तु ऐसा होनेपर भी मेरे अन्तःकरणमें जो अत्यधिक सन्ताप प्रज्वलित हुआ है, वह ताप मेरी अन्तरात्माके अत्यन्त कठोर होनेके कारण इस समय भी उसके टुकड़े-टुकड़े नहीं कर पा रहा है॥३७॥

कोऽसौ तमाशु कथयेति मुहुस्तयोक्तो
वक्तुं शशाक न स बाष्पनिरुद्धकण्ठः।
अश्रुप्लुतेक्षणमथास्य मुखं स्वयं सा
स्वेनाञ्चलेन मृदुलेन ममार्ज राधा॥३८॥

भावानुवाद—इस प्रकार देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णकी असहनीय वेदनाभरी बातोंको सुनकर प्रेमवती श्रीराधिका बोलीं—सखि! तुम्हारी इस असहनीय तीव्र वेदनाका कारण क्या है? उसे शीघ्र ही मुझे बतलाओ। श्रीराधिका पुनः-पुनः इस प्रकार प्रश्न करने लगी तो देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, उनके नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु प्रवाहित होने लगे और वे कुछ बोल भी नहीं पा रहे थे। श्रीराधिका स्वयं अपने मृदुल वसनाञ्चल द्वारा अश्रुजलसे परिप्लुत उनके नयन और मुखको धीरे-धीरे पोंछने लगीं।

यहाँ श्रीकृष्णके आन्तरिक गम्भीर दुःखका अभिनय निःसन्देह उसे सत्यके रूपमें प्रतिपन्न (स्थापित) करनेके अभिप्रायसे था॥३८॥

स्थित्वा क्षणं धृतिमधादथ तामुवाच
प्रेमा तवायमतुलोऽनुपाधिर्वलीयान्।
कृष्णेऽतिकामिनि बभूव कथं दुनोति
स्वां स्वांश्च विश्वसिति योऽत्यपदेऽप्यभिज्ञः॥३९॥

भावानुवाद—तब देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण क्षणभर तक इसी भावमें रहनेके पश्चात् अन्ततः धैर्य धारणकर श्रीराधिकासे बोले—अरी

मुग्धे! श्रीकृष्ण अत्यन्त कामुक और लम्पट हैं। ऐसे कामुकसे तुम्हारा प्रेम किस प्रकार हुआ? जगत्‌में तुम्हारे इस प्रेमकी कोई तुलना नहीं है। तुम्हारी प्रीति निरुपाधिक है, अर्थात् इसका कोई हेतु नहीं है, जिसके द्वारा यह नष्ट हो सके तथा इसका वेग भी इतना प्रबल है कि किसी भी कारणसे इसे रोका नहीं जा सकता। किन्तु जो लोग जान-बूझकर अयोग्य-स्थानपर विश्वास स्थापन करते हैं, वे अपनेको तथा आत्मीय-स्वजनोंको केवल दुःख ही देते हैं॥३९॥

सौन्दर्यशौर्यवरसौभगकीर्त्तिलक्ष्मी-
पूर्णोऽपि सर्वगुणरत्नविभूषितोऽपि।
प्रेमाविवेचकतमत्वमसौ विभर्त्ति
कामित्वहेतुकमसौ श्रयितुं न योग्यः॥४०॥

भावानुवाद—और भी सुनो, यद्यपि श्रीकृष्ण रूपमाधुर्य, वीरत्व (शौर्य), श्रेष्ठ सौभाग्य और यश आदि सम्पत्तिसे परिपूर्ण तथा सर्वगुणरूपी रत्नोंसे विभूषित हैं, तथापि प्रेम-विवेचनामें अत्यन्त असामर्थ्यरूप एक दोषसे उनके सारे गुण नष्ट हो गये हैं। अत्यधिक कामुकता ही इस दोषका मूल कारण है। अतः कभी भी ऐसे व्यक्तिका आश्रय करना उचित नहीं है॥४०॥

तस्मिन् दिने बहु विलस्य मुहुः प्रकाश्य
प्रेम त्वया सरभसं रजनौ तु कुञ्जे।
सङ्केतगामृजुधियं भवतीं विधाय
काञ्चित् परां स रमयन् कपटी जहौ त्वाम्॥४१॥

भावानुवाद—देखो, उस दिन तुम्हारे साथ बहुत प्रकारसे विलास करके श्रीकृष्णने बारम्बार उत्सुकताके साथ तुम्हारे प्रति कृत्रिम-प्रेमका प्रकाश किया था। बादमें सरलमतिवाली तुम्हें रात्रिके समय कुञ्जमें पूर्व-सङ्केतके अनुसार अभिसार कराकर उस घोर कपटी कृष्णने अन्य किसी रमणीके साथ रमण करनेके लिए तुम्हारा परित्याग कर दिया था॥४१॥

यत्त्वं तदा व्यलप एव सखीस्तुदन्ती
वल्लीः पतत्रिविततीरपि रोदयन्ती।
सर्वं तदालि! निभृतं मयकान्यभालि
वंशीवटस्थिततया वलितारुषैव॥४२॥

भावानुवाद—उस समय तुम जिस प्रकारसे विलाप कर रही थीं, उसे सुनकर तुम्हारी सखियाँ अत्यन्त दुःखित हो गयीं थीं तथा वनकी लताएँ, पशु, पक्षी तक दुःखके साथ रोदन कर रहे थे। मैं वंशीवटपर अवस्थान कर रही थी तथा वहींसे अलक्षित भावसे (छिपकर) मार्मिक पीड़ाके साथ यह सब देख रही थी।

तात्पर्य यह है कि श्रीराधिकाको विरह-दशामें मोहनाख्य महाभावका उदय होता है। ब्रह्माण्डको क्षोभित करना तथा तिर्यक्-प्राणियों तक का रोदन करना इस मोहनाख्य-महाभावका कार्य है। श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थके स्थायीभाव प्रकरणमें ऐसा उल्लिखित हुआ है। इसलिए यहाँ वृक्ष, लता तथा पक्षियोंने भी रोदन किया था, यह कथित हुआ है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

अकैतव कृष्णप्रेम, येन जाम्बुनद-हेम,
सेइ प्रेमा नृलोके ना हय।
यदि हय तार योग, ना हय तबे वियोग,
विरह हैले केह ना जीयय॥
(चै॰ च॰ म॰ २/४३)

अकैतव अर्थात् निष्कपट प्रेम शुद्ध जाम्बुनद स्वर्णके समान निर्मल होता है। वह प्रेम मनुष्यलोकमें किसीमें भी उदित नहीं होता है। यदि उदित हो भी जाये तो विरह नहीं होता है और यदि विरह हो तो फिर जीवन नहीं रहता है॥४२॥

रासे तथैव विहरन्नपरा विहाय
प्रेम त्वयैव सहसा प्रकटीचकार।
स्थित्वा क्षणं स भवतीममुचद्वनान्त-
रेकाकिनीं रतिभरश्रमखिन्नगात्रीम्॥४३॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण पुनः कहने लगे—इसी प्रकार उस रास-रात्रिमें तुम्हारे साथ विहार करते-करते श्रीकृष्णने अन्य व्रजसुन्दरियोंका परित्यागकर केवलमात्र तुम्हें साथ ले जाकर तुम्हारे प्रति यथेष्ट प्रीति दिखलायी थी। किन्तु क्षण काल तक तुम्हारे साथ अवस्थान करनेके उपरान्त विलास-परिश्रमसे तुम्हारे अत्यन्त क्लान्त होनेपर (थक जानेपर) वे सहसा तुम्हें वनमें अकेले छोड़कर चले गये॥४३॥

तर्हि प्लुतं विलपितं गहना च मूर्च्छा
चेष्टाप्यतिभ्रममयी तव यद्यदासीत्।
व्याप्यैव हा बहुजनूंषि हृदि स्थितं मे
तत् कष्टमष्टविधयैव तनोः प्रकृत्या॥४४॥

भावानुवाद—उस समय तुम्हारा उच्च स्वरसे विलाप करना, क्षण-क्षणमें मूर्च्छित होना और अत्यन्त भ्रममयी अस्वाभाविक चेष्टाएँ इत्यादि अनेक प्रकारकी दशाएँ हुईं थीं। अहो! कितने दुःखकी बात है कि मैं उन सबको बहुत जन्मों तक जन्म, मृत्यु, जरा इत्यादि देहकी जो आठ प्रकारकी अवस्थाएँ हैं, इनमेंसे किसी भी अवस्थामें भूल नहीं सकती। वह दुःख मेरे हृदयमें सदैव शूलकी भाँति चुभता रहेगा॥४४॥

देवीजनोऽस्मि हृदि मे क्व नु कष्टमासीद्-
दैवाद् यशस्विनि! बभूव भवद्दिदृक्षा।
मामागमय वत साकृत कीलविद्धाम्
यस्यास्ति नैव सखि! निर्गमनेऽप्युपायः॥४५॥

भावानुवाद—अरी यशस्विनि! मैं देवी हूँ, क्या मेरे हृदयमें कष्ट रह सकता है? किन्तु हाय! दैवात् किसी अशुभ क्षणमें ही तुम्हें देखनेकी इच्छा मेरे हृदयमें उदित हुई थी। वह इच्छा ही मुझे इस स्थानपर लाकर मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभ रही है। हे सखि! यह शूल मेरे हृदयसे किस प्रकार निकलेगा—इसका कोई उपाय भी मुझे दिखायी नहीं दे रहा है।

इन समस्त श्लोकोंमें देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण स्वयं ही अपनी निन्दा कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण श्रीराधिकाकी अपने प्रति जो प्रीति है, उसकी गम्भीरताकी परीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णकी निन्दा-श्रवणसे यदि श्रीराधाकी प्रीतिका क्षय नहीं होता है अथवा बिन्दुमात्र भी प्रीति संकुचित नहीं होती है, तभी जगत्‌में उस प्रीतिका उत्कर्ष स्थापित होगा। तथा इस प्रकार निन्दा श्रवण करनेपर प्रेमिका-मुकुटमणि श्रीराधिकाके प्रेम-सुगन्धित गम्भीर हृदयसे उत्थित जो रसमयी वचन-सुधा निःसृत होगी, उसे पान करनेकी लालसासे भी श्रीकृष्णने इस प्रकारकी निन्दात्मक भाषाका प्रयोग किया है॥४५॥

सन्दानितं त्वयि मनो न दिवं प्रयातुम्
स्थातुञ्च नात्र तिलमात्रमपीत्थमीष्टे।
उद्घूर्णते प्रतिपदं न पदं लभेत
अद्याभवं त्वयि चिरात् प्रकटीकृतात्मा॥४६॥

भावानुवाद—वह (देवाङ्गना) और भी कहने लगी—सखि! मेरा चित्त तुममें इस प्रकारसे आबद्ध हो गया है कि तुम्हारे इस प्रकारके दुःखको देखकर स्वर्ग तक जानेकी भी शक्ति मुझमें नहीं रही। तथा इस स्थानपर भी मैं ऐसे शोकार्त्त-चित्तसे रह नहीं पाऊँगी। मेरा मन प्रति क्षण उद्घूर्णायुक्त (भ्रमित) होकर किसी भी प्रकारसे धैर्य धारण नहीं कर पा रहा है। इन सभी कारणोंसे मैंने बहुत दिनोंके बाद तुम्हारे साथ साक्षात्कार करके अपने मनकी बात अभिव्यक्त की है॥४६॥

कृष्णात् पुनर्बहु विभेमि न धर्मलोक-
लज्जे दयाध्वनि कदापि न पान्थतास्य।
बाल्ये स्त्रियास्तरुणिमन्यचिराद्वृषस्य
वत्सस्य मध्यमनु यो व्यधितैव हिंसाम्॥४७॥

भावानुवाद—विशेषतः मैं श्रीकृष्णसे अत्यन्त डरी हुई हूँ, क्योंकि श्रीकृष्णमें धर्म तथा लोक-लज्जा तनिक भी नहीं है। उन्होंने कभी भी दयाके पथपर पदार्पण किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता अर्थात्

वे अत्यन्त कठोर हृदयवाले हैं। उन्होंने बाल्यकालमें ही स्त्रीवध अर्थात् पूतना राक्षसीका वध कर दिया था, कैशोर अवस्थामें बैल—वृषासुरकी हत्या तथा पौगण्डकालमें गोवत्स—वत्सासुरकी हत्या की थी। इस प्रकार बाल्यकालसे ही उन्होंने हिंसक तथा धर्म-विगर्हित (विरुद्ध) कार्य किये हैं॥४७॥

गान्धर्विकाह सुभगे! त्वयि कापि शक्ति–
राकर्षिणी किल हराविव सन्ततास्ति।
यन्निन्दसि प्रियतमं तदपि प्रकामम्
मच्चित्तमात्मनि करोष्यनुरक्तमेव॥४८॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति निन्दायुक्त इन वचनोंको श्रवणकर श्रीराधिका बोलीं—अरी सौभाग्यशालिनि! हमारे प्राणकान्त श्रीकृष्णमें ऐसी एक अपूर्व चित्ताकर्षिणी शक्ति है कि उनके द्वारा अनेक बार मेरे प्रति कई दुःखदायक कार्य करनेपर भी मैं अपने चित्तको उनसे विरक्त नहीं कर सकती। कितनी ही बार सोचती हूँ कि उन्होंने उचित नहीं किया, उनसे बात नहीं करूँगी, किन्तु उनके दर्शनमात्रसे सब कुछ भूल जाती हूँ। मैं देख रही हूँ कि तुममें भी वैसी ही एक शक्ति है, अन्यथा तुम मेरे प्राणकोटि श्रेष्ठ श्रीव्रजराजकुमारकी इस प्रकार निन्दा नहीं कर सकती थीं। तथापि इस समय तो तुम मेरे चित्तका आकर्षणकर स्वयंके प्रति मुझे यथेष्ट अनुरक्त कर रही हो। यद्यपि प्रियजनोंकी निन्दा करनेवाले व्यक्तियोंके साथ प्रीति करना सम्पूर्णता अस्वाभाविक है, तथापि अलौकिक-शक्ति द्वारा नियन्त्रित न होनेसे ऐसा सम्भवपर नहीं होता। निरुपाधिक प्रेमका ऐसा ही स्वभाव है। जब यह उत्पन्न होता है, तो सहजमें ही इसका ध्वंस नहीं होता। यह प्रीति इतनी प्रगाढ़ होती है कि दूसरेके द्वारा निन्दा किये जानेपर भी तरल नहीं होती अर्थात् नष्ट नहीं होती।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें वर्णन है—"अकैतव कृष्णप्रेम, येन जाम्बुनद-हेम, सेइ प्रेमा नृलोके ना हय। यदि हय तार योग, ना हय तबे वियोग, वियोग हैले केह न जीयय॥" (इस पयारका अर्थ पृष्ठसंख्या २१ पर दिया जा चुका है।)॥४८॥

त्वं मे सखी भवसि चेन्न दिवं प्रयासि
नित्यस्थितिं व्रजभुवीह मया करोषि।
तत् प्रेमरत्नवरसम्पुटमुद्‌घटय
त्वां दर्शयामि तदृते न समादधामि॥४९॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाजी कहने लगीं—अरी सुन्दरि! यदि तुम मुझे अपनी सखी मानती हो तो स्वर्गमें न जाकर अब इस व्रजभूमिमें ही नित्य मेरे साथ वास करो, तभी मैं तुम्हें प्रेमरूप महारत्नके सम्पुटको खोलकर दिखा सकती हूँ। अर्थात् श्रीकृष्ण और मेरे प्रेमके विषयको मुख द्वारा बोलकर समझाया नहीं जा सकता, उसे कार्यतः देखकर ही अनुभव कर सकोगी। एक साथ न रहनेसे मैं उस प्रेमको तुम्हें कैसे समझाऊँगी और किस प्रकारसे तुम्हारे इस सन्देहका समाधान कर सकूँगी? मैं इतना दुःख भोगकर भी किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णसे प्रीति करनेसे विरत क्यों नहीं होती, उसे तुम मेरे साथ रहकर ही भलीभाँति समझ सकती हो॥४९॥

हन्ताधुनापि नहि विश्वसिषि प्रसीद
दासी भवामि किमु मां नु सखीं करोषि।
त्वं शाधि साधु धिनु वा तुद वा गतिर्मे
राधे! त्वमेव शपथं करवाणि विष्णोः॥५०॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण श्रीराधिकाकी बात श्रवण करके बोले—हाय, हाय! इतने समय तक परिचय होनेपर भी तुम मुझपर विश्वास नहीं करती हो। हे राधे! तुम मुझे अपनी सखी बनाना चाहती हो, किन्तु यह तो बहुत दूरकी बात है, मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। मेरे प्रति प्रसन्न होओ तथा सब प्रकारसे मुझपर शासन करो। तुम मुझपर अनुग्रह करो या निग्रह करो, मैं श्रीविष्णुकी शपथ लेकर कहती हूँ—हे राधे! तुम ही मेरी एकमात्र गति हो।

देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण द्वारा कथित यह बात पूर्णता सत्य है, क्योंकि मादनाख्य-महाभावके बिना शृङ्गाररसराज श्रीकृष्णकी असीम सम्भोग-लालसाको पूर्ण करना असम्भव है॥५०॥

वक्तुं तदा प्रववृते वृषभानुनन्दि–
न्याकर्ण्य तां विविदिषामिह चेद्दधासि।
प्रेमेयदेवमिदमेव न चेदमेतत्
यो वेद वेदविदसावपि नैव वेद॥५१॥

भावानुवाद—इस बातको सुनकर वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका कहने लगी—अरी सखि! यदि तुम्हें मेरे प्रेमके सम्बन्धमें श्रवण करनेकी इच्छा हो रही है, तो सुनो। 'प्रेमका यह परिमाण है', 'प्रेम इस प्रकारसे होता है', 'यह प्रेमका स्वरूप है' अथवा 'यह प्रेमका स्वरूप नहीं है'—जो ऐसी बातें कहते हैं, वे वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन करनेपर भी प्रेमके विषयमें कुछ नहीं जानते।

तात्पर्य यह है कि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। जिस समय तक हृदयमें विचार करनेकी योग्यता रहती है, उस समय तक वहाँ प्रेमकी स्थिति नहीं हो सकती। अन्य विषयोंके विचारोंको बतलाना तो दूर रहे, प्रीतिके स्वरूपके प्रति विचारशील व्यक्ति भी प्रीतिका अधिकारी नहीं हो सकता। इसका कारण है कि प्रेम-वस्तु अन्य वस्तुओंसे निरपेक्ष तथा स्व-संवेद्य होती है। यदि एकमात्र प्रियजनकी सुख कामनाके अलावा अन्य कोई भी ज्ञान हृदयमें रहता है, तो उस हृदयमें प्रेमका आविर्भाव नहीं हो सकता। 'क्या करनेसे प्रियजन सुखी हो सकता है', इस चिन्तामें तन्मय होनेकी अवस्थाका नाम ही प्रेम है। इस अवस्थामें विचार-बोध रह नहीं सकता। जो विचार करते हैं, उन्हें प्रेमका अनुभव प्राप्त नहीं होता तथा प्रेमकी उपलब्धि होनेसे अन्य किसी बोधका उदय नहीं हो सकता। विचारके द्वारा समस्त शास्त्रोंको जाना जा सकता है, परन्तु प्रेमका अनुभव नहीं हो सकता॥५१॥

यो वेदयेद्विविदिषुं सखि! वेदनं यत्
यो वेदना तदखिलं खलु वेदनैव।
प्रेमा हि कोऽपि पर एव विवेचने स–
त्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि ॥५२॥

भावानुवाद—हे सखि! यदि कोई व्यक्ति प्रेमतत्त्व जाननेके इच्छुक किसी अन्य व्यक्तिको प्रेम समझानेकी चेष्टा करता है, तब वह जो कुछ भी समझाता है तथा उसकी उक्तिसे जो कुछ अनुभव होता है—वह सब केवल विडम्बनामात्र है। प्रेम एक अनिर्वचनीय श्रेष्ठ वस्तु है। इसका विचार करनेपर भी यह अन्तर्हित हो जाता है तथा विचार न करनेपर तो यह और भी अधिक रूपसे अन्तर्हित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्रेम-वस्तु स्वानुभव-संवेद्य तथा निरुपम है। इसे भाषाके द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जब तक अपने हृदयमें इसका आविर्भाव नहीं होता अन्यके मुखसे श्रवण करके भी यह बोधगम्य नहीं होता। अतएव प्रेमको समझनेकी अथवा समझानेकी चेष्टा निष्फल परिश्रममात्र है। कारण प्रेमरूप पदार्थका बोध उसकी उपलब्धि अर्थात् अनुभवपर निर्भर है। विचार करनेपर प्रेम अन्तर्हित हो जाता है, इस विषयपर पूर्व श्लोककी व्याख्यामें चर्चा की गयी है। अर्थात् हृदय जिस समय विचार करनेके लिए तत्पर होता है, उस समय प्रेमका आविर्भाव हो नहीं सकता और प्रेमके आविर्भावके बाद यदि हृदयमें विचार-बुद्धि जाग्रत होती है, तो उस समय भी प्रेम रह नहीं सकता। विचार न करनेपर भी प्रेम अन्तर्हित हो जाता है, अर्थात् प्रेमके आविर्भावकी पूर्ववास्थामें यदि विचारपूर्वक यह चिन्ता न की जाये कि क्या करनेसे श्रीकृष्णको सुख होता है, तो भी प्रेम आविर्भूत नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वभावतः अन्तर्मनमें एकमात्र श्रीकृष्णका आनुकूल्य करनेकी जो प्रवृत्ति है, उसीका नाम प्रेम है। विचारपूर्वक चिन्ता न करनेसे इस आनुकूल्य-अनुशीलनमयी प्रवृत्तिका जन्म ही नहीं हो सकता। 'क्या करनेसे उन्हें सुख होता है', 'क्या करनेसे उन्हें दुःख होता है'—यह विचार न करनेपर यथेच्छाचारिता अर्थात् अपनी इच्छानुसार कार्य करनेकी वृत्ति आ जाती है। अतएव वहाँ प्रेम आविर्भूत हो ही नहीं सकता॥५२॥

द्वाभ्यां यदा रहितमेव मनः स्वभाव-
सिंहासनोपरि विराजति रागि शुद्धम्।

तच्चेष्टितैः प्रियसुखे सति यत्सुखं स्यात्
तच्च स्वभावमधिरूढ़मवेक्षयेत् तम्॥५३॥

भावानुवाद—जिस समय चित्त रागयुक्त होता है, अर्थात् जिस समय चित्तमें एकमात्र प्रिय व्यक्तिके सुख-तात्पर्यके अलावा अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती तथा जिस समय चित्त विचार और अविचार इन दोनोंसे ही रहित हो जाता है, और ये अवस्थाएँ यदि स्वभावरूप सिंहासनपर विराजमान हों, उसी समयमें प्रियजनको सुखी देखनेसे जो सुख होता है, वही सुख स्वभावमें अधिरूढ़ होकर स्वाभाविक चेष्टाओं द्वारा प्रेमको दिखा देता है।

तात्पर्य यह है कि प्रेमके उदय होनेपर चित्तकी कुछ विशेष अवस्थाएँ होती हैं, जैसे—उस समय चित्त रागयुक्त होता है। अत्यन्त दुःखजनक वस्तुमें भी प्रियजनकी प्राप्तिकी सम्भावनासे प्रणयोत्कर्षके कारण चित्तकी जो अवस्था परम सुख रूपमें अनुभूत होती है तथा प्रियजनकी प्राप्तिकी असम्भावनासे जब सुख भी दुःख रूपमें अनुभूत होता है, चित्तकी ऐसी अवस्थाको राग कहते हैं।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/१२६) में रागका लक्षण ऐसा ही बतलाया गया है—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्त्त्यते॥

प्रेमके उदय होनेपर चित्तकी एक दूसरी अवस्थाको भी बतला रहे हैं—उस समय चित्त शुद्ध हो जाता है अर्थात् प्रियजनके सुख-तात्पर्यसे रहित अन्य कोई अभिलाषा उस समय चित्तमें उदित नहीं होती। तीसरी अवस्था है कि जब चित्त विचार और अविचार दोनोंसे रहित हो जाता है, अर्थात् प्रेमका परिचय पानेकी वृत्ति भी चित्तमें नहीं रहती है। किन्तु चित्तकी इन अवस्थाओंका स्वाभाविक होना आवश्यक है। चेष्टाके द्वारा जब ऐसी कोई कृत्रिम अवस्था प्रकाशित होती है, तब उसे प्रेम नहीं कहा जा सकता। प्रेमका स्वाभाविक अनुभाव अथवा सात्त्विक भाव देखकर ही प्रेमका परिचय होता है। इसके अलावा प्रेमको समझनेके लिए अन्य कोई उपाय नहीं

है। प्रियजनको सुखी देखनेपर स्वभावतः हृदयमें जो सुख उत्पन्न होता है, उसी समय ये सब अनुभाव आदि प्रकाशित होते हैं और उसी समय समझा जा सकता है कि इस व्यक्तिमें प्रेम उदित हो गया है॥५३॥

लोकद्वयात् स्वजनतः परतः स्वतो वा
प्राणप्रियादपि सुमेरुसमा यदि स्युः।
क्लेशास्तदाप्यतिवली सहसा विजित्य
प्रेमैव तान् हरिरिभानिव पुष्टिमेति॥५४॥

भावानुवाद—सिंह जिस प्रकार हाथियोंको पराजित करके उनके द्वारा ही अपनी पुष्टि प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस लोकसे, परलोकसे, आत्मीय स्वजनोंसे, शत्रुओंसे, अपनी देहसे अथवा देह-सम्बन्धित विषयोंसे, यहाँ तक कि जिससे प्रीति की जा रही हो, यदि उस प्राणप्रेष्ठ प्रियजनके द्वारा भी सुमेरु पर्वत-तुल्य असीम, गुरुतर क्लेश प्राप्त होता है, तथापि अत्यधिक बलवान प्रेम उन क्लेशोंको पराजित करके उनके द्वारा स्वयं ही पुष्टि प्राप्त करता है।

श्रीराधिकाके इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि प्रेम-पदार्थ अप्रतिहत (बाधारहित) स्वभावसे युक्त होता है। जब यह एकबार प्रकाशित हो जाता है, तब शत-सहस्र बाधाओंसे भी बाधित नहीं होता। इस प्रेममें लौकिक सुख-सुविधा तथा पारलौकिक धर्म और स्वर्गादि प्राप्तिकी चिन्ता करनेका अवकाश ही नहीं रहता। आत्मीय स्वजनोंका तिरस्कार तथा शत्रुओंके द्वारा की गयी निन्दा कानोंमें प्रवेश ही नहीं कर पाती। अपनी देहकी रक्षाका कार्य भी विस्मृत होने लगता है। यहाँ तक कि प्रणयी (प्रेमी) व्यक्ति यदि स्वयं ही प्रीति-भङ्ग करनेकी चेष्टासे उसकी प्रीतिकी उपेक्षा भी करता है, तो भी प्रेम किसी प्रकारसे बाधित नहीं होता। श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/६३) में प्रेमका लक्षण कहा गया है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्त्तितः॥

युवक-युवतीके बीच भाव-बन्धन जब सब प्रकारसे ध्वंसका कारण रहनेपर भी ध्वंस नहीं होता, वही भाव-बन्धन ही प्रेम-नामसे जाना जाता है। विविध प्रकारके क्लेशोंके द्वारा भी प्रेम बाधित नहीं होता, अपितु वह और भी अधिक पुष्ट होता है। जिस प्रकार अत्यन्त स्रोतयुक्त नदीके प्रवाहमें बाधा दिये जानेपर जल-प्रवाह उस बाधाका उल्लंघन करके दुगुने वेगसे प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्रेम जितने परिमाणमें बाधाको प्राप्त होता है, उससे भी अधिक परिमाणमें प्रियजनके प्रति चित्तका आकर्षण बढ़ता जाता है तथा फलस्वरूप प्रेमका वेग भी सौ गुणा अधिक वर्द्धित होता है। रसशास्त्रके आदि गुरु महामुनि भरतने इस प्रकार कहा है—

बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः॥
(उ॰ नी॰ १/२०)

जिस प्रेममें लोकसम्बन्धी और धर्मसम्बन्धी बहुत-से प्रतिबन्धक रहते हैं, जिस प्रेममें नायक-नायिकाकी प्रच्छन्न कामुकता रहती है तथा जो रति परस्पर दुर्लभतामयी होती है, उसीको मन्मथसम्बधित परमा प्रीति कहते हैं। अतएव देखा जाता है कि प्रेम बाधाओंके प्राप्त होनेपर भी स्थगित नहीं होता, अपितु उत्तरोत्तर उज्ज्वल अर्थात् वर्द्धित होता जाता है॥५४॥

स्निग्धाङ्गकान्तिरथ गर्वधरोऽत्यभीतो
विश्रम्भवान् स्वपिति किं गणयेदसौ तान्।
कण्ठीरवः शुन इवाभिभवन् सराग-
स्तेष्वेव राजतितमां तमसीव दीपः॥५५॥

भावानुवाद—स्निग्ध देहकान्तियुक्त, गर्वयुक्त विश्वासशील सिंह जिस प्रकार सन्देहरहित तथा निर्भय होकर सोता है, उसी प्रकार जो प्रेम स्नेहगुणसे युक्त है, जिसमें मानसे उदित होनेवाला गर्व प्रकाशित होता है तथा 'प्रणय' जिसकी विशेष अवस्था है, अर्थात् 'मेरे ही प्रियतम' इस प्रकार मदीयता-अभिमानपूर्ण भावमय जो प्रेम है—उसकी

किसी भी प्रकारसे ध्वंस होनेकी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह तो प्रणयीके हृदयमें निश्चल भावसे विराजित रहता है। जिस प्रकार सिंह कुत्तोंको कुछ भी नहीं समझता, उसी प्रकार यह प्रेम भी कुत्तोंके समान तुच्छ क्लेशोंकी गिनती ही नहीं करता, बल्कि उन्हें पराभूत करके विराजित रहता है। जिस प्रकार अन्धकारमें दीपककी उज्ज्वलता बढ़ती है, उसी प्रकार क्लेशोंके बीच प्रेमका माहात्म्य और भी दीप्तमान होता है, उसका क्षय नहीं होता॥५५॥

लाम्पट्यतो नवनवं विषयं प्रकुर्व–
नास्वादयन्नतिमदोद्धुरतां दधानः।
आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकीम्
सन्तापयन् प्रलयसूर्य इवावभाति॥५६॥

भावानुवाद—सखि! लम्पटताके कारण यह प्रेम प्रियतमको क्षण-क्षणमें नव-नवायमान रूपमें आस्वादन कराता रहता है तथा अत्यधिक मदाधिक्यका विधानकर तीनों लोकोंको चन्द्रमाके समान आह्लादित और प्रलयकालीन सूर्यके समान सन्तापित करके दीप्तिमान होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि अनेक नायिकाओंमें निष्ठा रहनेके कारण नायककी प्रीति क्षण-क्षणमें नयी-नयी नायिका-प्राप्तिकी लालसासे उत्कण्ठा उत्पन्न कराती है और नये-नये भावोंके आस्वादन-दानसे नायकको उत्फुल्ल कर देती है। यह प्रीति नायिकाको भी अन्य नायिकाके पास गये हुए नायककी अप्राप्तिके कारण विरह दशाको प्राप्त कराती है तथा नायिकाको भूत तथा भविष्यत विविध प्रकारके सम्भोग-सुखका स्वप्न-प्रदान करते हुए उसे एक अभूतपूर्ण आस्वादन-सागरमें निमज्जित करती है। चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी ज्योत्स्नासे त्रिभुवनको सुशीतल करता है, उसी प्रकार प्रेम संयोग-अवस्थामें नायक-नायिकाको अनिर्वचनीय आस्वादन प्रदान करता है। इसलिए उनकी दृष्टिमें त्रिभुवन ही आनन्दमय प्रतीत होता है। विरहावस्थामें वही प्रेम करोड़ों दावानलोंसे भी अधिक पीड़ादायक हो जाता है, इससे उन्हें प्रत्येक वस्तु ही ज्वालामय प्रतीत होती है॥५६॥

एनं विभर्त्ति सखि! कः खलु गोपराज–
सूनुं विना त्रिभुवने तदुपर्यधोऽपि।
प्रेमाणमेनमलमेणदृशोऽन्वविन्द–
न्नत्रैव गोष्ठभुवि काश्चन तारतम्यात्॥५७॥

भावानुवाद—प्रियसखि! इस त्रिभुवनमें अथवा त्रिभुवनके ऊपर महः आदि लोकों तथा नीचेके रसातल आदि लोकोंमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अलावा इस प्रेमको धारण करनेके लिए क्या कोई दूसरा योग्य पात्र है? इस व्रजभूमिमें कुछ मृगनयनाएँ (व्रजरमणियाँ) ही अपने-अपने भावके तारतम्यानुसार इस प्रेमका आस्वादन करती हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक कोई सम्पूर्ण रूपसे स्वाधीन तथा निश्चिन्त न हो सके तथा असाधारण स्वरूपगत धर्मसे उत्पन्न अभिमानका त्याग न कर पाये, तब तक वह कभी भी प्रेमवान नहीं हो सकता। अर्थात् कोई भी मनुष्य कभी भी प्रेमिक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि वह सर्वदा ही काल, कर्म, माया तथा इन्द्रियादि द्वारा नियन्त्रित है, अतएव निश्चिन्त भावसे किसीको भी प्रेम नहीं कर पाता। गुणावतार और पुरुषावतारसे आरम्भ करके परव्योमाधिपति श्रीनारायण तक जितने भी श्रीभगवत्-स्वरूप हैं, वे सभी परम स्वतन्त्र होनेपर भी अपने साधु-परित्राण, धर्म-संस्थापन तथा सृष्टि आदि कार्योंमें व्यस्त रहते हैं, उन सबमें भगवान् होनेका अभिमान हैं। इसलिए वे क्षण-कालके लिए भी निश्चिन्त नहीं हो पाते अथवा अपने ऐश्वर्यका त्याग नहीं कर पाते। अतः वे किसीसे भी सरल भावसे प्रेम कर ही नहीं सकते। श्रीकृष्णके प्रकाश श्रीमथुरानाथ, श्रीद्वारकानाथ आदि भी इसी प्रकारसे यथार्थ प्रीति नहीं कर सकते। किन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण सम्पूर्ण रूपसे निश्चिन्त हैं। इसका कारण यह है कि वे स्वयं राजा नहीं हैं, अपितु राजपुत्र हैं और किसीके साथ भी प्रीति करते समय अपनी भगवत्ता तक को भूल जाते हैं। इसलिए एकमात्र वे ही प्रेमी होनेके योग्य हैं। और भी, सम्पूर्ण रूपसे अन्याभिलाष तथा स्वसुख अनुसन्धानका लेशमात्र गन्ध भी हृदयमें रहनेपर कभी भी यथार्थ प्रेमिका नहीं हुआ जा सकता। एकमात्र व्रजगोपियोंके अलावा अन्यत्र इस प्रकारका भाव

कहीं भी दिखायी नहीं देता। इसका कारण है कि वे लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, आत्मीय-परिजन और उनकी ताड़ना-भर्त्सना आदि सभीका परित्याग करके केवलमात्र श्रीकृष्णके सुखके लिए उनकी प्रेमसेवा करती हैं। इसलिए व्रजसुन्दरियाँ ही श्रीकृष्णसे यथार्थ प्रीति कर सकती हैं॥५७॥

प्रेमा हि काम इव भाति बहिः कदाचि-
त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत्।
प्रेमेव कुत्रचिदवेक्ष्यत एव कामः
कृष्णस्तु तं परिचिनोति बलात् कलावान्॥५८॥

भावानुवाद—कभी-कभी बाह्य रूपसे प्रेम भी कामके समान प्रकाशित होता है। इससे प्रियतम श्रीकृष्णको असीम सुख प्राप्त होता है। किन्तु कभी-कभी किसी व्यक्तिमें काम भी प्रेमके समान दिखायी पड़ता है। विदग्ध-शिरोमणि कलावान श्रीकृष्ण ही उसे जान सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मेन्द्रिय-तर्पण करनेकी इच्छाका नाम ही काम है और आत्मसुखके प्रति बिन्दुमात्र भी दृष्टि न करके केवलमात्र श्रीकृष्णकी ही प्रीतिका विधान करनेका नाम प्रेम है। श्रीव्रजसुन्दरियोंका जो प्रेम है, वह प्रेम-जगत्‌की परमोच्च अवस्था है, उसका नाम अधिरूढ़-महाभाव है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कथित है—

अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम—अन्धतमः, प्रेम—निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणेर नाहि कामगन्ध।
कृष्णसुख लागि मात्र, कृष्ण से सम्बन्ध॥
(चै॰ च॰ आ॰ ४/१७१-१७२)

अतएव काम और प्रेममें बहुत अन्तर है। काम घोर अन्धकार है और प्रेम निर्मल सूर्य है। इसलिए गोपियोंमें कामका गन्ध भी नहीं है। केवलमात्र श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए ही उनका श्रीकृष्णसे सम्बन्ध है।

किन्तु काम और प्रेमके स्वरूप परस्पर विपरीत होनेपर भी उनका आलिङ्गन, चुम्बन आदि कार्योंमें सादृश्य है। इसीलिए बाह्य-दृष्टिसे प्रेम कामके रूपमें प्रतीत होता है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/२८३-२८४) में भी ऐसा ही कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमम् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

व्रजसुन्दरियोंका प्रेम ही कामके रूपमें प्रकाशित होता है। इसीलिए श्रीउद्धव आदि भगवान्के प्रियजन इस कामरूपा भक्तिकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना करते हैं। कामके रूपमें प्रतीत होनेवाला व्रजसुन्दरियोंका प्रेम रसिकशेखर श्रीकृष्णको परम आनन्ददायक होता है। इसका कारण है कि प्रीतिका स्वभाव है कि जिससे प्रेम किया जाता है, उसकी ओरसे भी प्रीतिजनक उल्लास देखनेके लिए लालसा जागृत होती है। उसका प्रकाश नहीं देखनेपर प्रीति रह ही नहीं सकती। इसीलिए व्रजसुन्दरियोंको अपने लिए किसी भी प्रकारके सुखकी कामना नहीं रहनेपर भी श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए उनके अङ्गोंमें सुखकी तरङ्गें प्रकाशित होती हैं। यहाँ तक कि वे अपने अङ्गोंका मार्जनकर उन्हें सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और भूषणोंसे सुशोभित करती हैं। ऐसा वह केवल श्रीकृष्णको सन्तुष्ट करनेके लिए ही करती हैं। आदिपुराणमें कहा गया है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढ़प्रेमभाजनम्॥

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा गया है—

आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख।
एइ सुखे गोपीर प्रफुल्ल अङ्ग मुख।
गोपी-शोभा देखि' कृष्णेर शोभा बाड़े यत।
कृष्ण-शोभा देखि' गोपीर शोभा बाड़े तत॥
अतएव सेइ सुख कृष्ण-सुख पोषे।
एइ हेतु गोपी-प्रेमे नाहि काम-दोषे॥

(चै॰ च॰ आ॰ ४/१९१-१९२, १९५)

किन्तु कहीं-कहीं 'काम' को ही प्रेम समझकर अभिव्यक्त किया जाता है, ऐसा होनेपर श्रीकृष्णको सन्तोष नहीं होता तथा उससे वे वशीभूत भी नहीं होते। जिस प्रेममें काम है, उस प्रेमसे श्रीकृष्णको सुख नहीं होता। द्वारकाकी महिषियोंमें जब प्रेमके साथ अपनी-इन्द्रिय तर्पणकी वासना होती है, तब वे किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णको वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं होतीं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०/६१/४) में भी कहा गया है—

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोड़शसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुम करणैर्न शेकुः॥

श्रीकृष्णकी सोलह हजार महिषियाँ अपने हास्ययुक्त कटाक्ष तथा मनोहर भ्रू-नर्त्तन-रूप सुरत-मन्त्र-निपुण-अनङ्गबाणोंके द्वारा भी श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंको विमथित (विमोहित) नहीं कर सकीं॥५८॥

कृष्णान्तिकं सखि! नयाशु निकामतप्ताम्
मामित्युदाहरति किन्तु तदात्मजेन।
कामेन तत्सुखपरं दधती स्वभावा-
देव स्वचित्तमयमत्र न कामिनी स्यात्॥५९॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाजी और भी कहने लगीं—हे सखि! जिस समय कोई रमणी यह कहे—मैं अत्यधिक रूपसे स्मर(काम)-अग्नि द्वारा सन्तप्त हो रही हूँ, शीघ्र ही मुझे प्राणनाथके समीप ले चलो। उस समय उसे कामुका (कामिनी) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय उसका चित्त स्वभावतः ही प्रियतमके सुखमें निष्ठ है। प्रियतमके सुखके लिए जो काम-भाव प्रकाशित होता है, उसे काम नहीं कहा जा सकता, वह तो प्रेम है॥५९॥

प्रेमाम्बुधिर्गुणमणीखनिरस्य शाठ्य-
चापल्यजैह्म्यमखिलं रमणीयमेव।
प्रेमाणमेव किल काममिवाङ्गनासु
सन्दर्शयन् स्वमुदकर्षयदेव यस्ताः॥६०॥

भावानुवाद—सखि! श्रीव्रजेन्द्रनन्दन प्रेमके समुद्र हैं तथा गुणरूपी रत्नोंकी खान भी हैं। उनकी शठता, चपलता तथा कुटिलता इत्यादि सभी आचरण परम मनोहर हैं। वे सभी स्त्रियोंके निकट अपने प्रेमको कामके समान दिखाकर उसके उत्कर्षका ही विधान करते हैं।

तात्पर्य यह है कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी मूर्त्ति विशुद्ध माधुर्यमयी है। यहाँ तक कि असुर-मारणादि लीलामें जब ऐश्वर्य प्रकाश होता है, उस समय भी सर्वचित्त-मनोहारी माधुर्य भावका ही प्रकाश होता है। इसलिए उनकी चपलता, कुटिलता आदि सभी मधुर हैं। रसमयमूर्त्ति श्रीगोविन्दके प्रत्येक अङ्ग-सञ्चालनसे ही आनन्दकी तरङ्गें उठती हैं तथा इस प्रकार वे शठता, चपलता आदि आचरण द्वारा अपनी प्रेयसियोंकी प्रीतिके उत्कर्षका ही विधान करते हैं। श्रीकृष्ण यदि शठता आदि न करें, तो उनकी प्रीतिकी व्यभिचारी-भावादि तरङ्ग तथा व्रजरमणियोंकी खण्डितादि अवस्थाओंके भेद प्रकाशित ही नहीं हो पाते। इससे श्रीव्रजसुन्दरियोंकी प्रीतिका माहात्म्य जगत्में अप्रकाशित ही रहता। और भी, श्रीकृष्ण सम्भोग-लालसाकी प्रतीति दिखाकर प्रेयसियोंके हृदयमें अपार आनन्द प्रदान करते हैं। वे जब सर्वस्व दान करके श्रीकृष्णको सुखी करनेकी वासना करती हैं, उस समय श्रीकृष्ण उनके उसी दानको सम्यक् रूपसे उपभोग करनेके लिए उत्कण्ठा प्रकाशित करते हैं। कारण, विशुद्ध-मूर्त्ति श्रीगोविन्दमें भक्तकी प्रीतिके अनुरूप वासना स्वतः ही उद्भूत होती है। इसके बिना प्रीति बढ़ ही नहीं सकती॥६०॥

का वाङ्गनाः शतसहस्रममुष्य काम-
पर्याप्तये मदकलाः प्रभवन्तु यत्ताः।
प्रेमा तदत्र रमणीष्वनुपाधिरेव
प्रेमैकवश्यतमता च मयान्वभावि॥६१॥

भावानुवाद—शत-सहस्र रमणियाँ भी यौवन-मदमें उन्मत्त होकर विविध-चेष्टाओंके द्वारा श्रीकृष्णकी सम्भोग-वासनाको पूर्ण करनेमें क्या कभी समर्थ हो सकती हैं? अर्थात् आत्माराम, आप्तकाम श्रीकृष्णको कोई भी कामके द्वारा वशीभूत नहीं कर सकता। वे तो

एकमात्र शुद्ध प्रेमके ही वशीभूत होते हैं। इसीलिए श्रीराधिकाजी कह रही हैं—सखि! श्रीवृन्दावनमें रहकर इसका अनुभव करो कि व्रजरमणियोंका श्रीकृष्णके प्रति जो प्रेम है, उसमें लेशमात्र भी स्व-सुख नहीं है तथा श्रीकृष्ण भी एकमात्र इसी प्रकारके प्रेमके वशीभूत होते हैं॥६१॥

तत्रापि मय्यतितरामनुरज्यतीति
लोकप्रतीतिरपि न ह्यनृता कदापि।
यत् प्रेम मेरुमिव मे मनुते परासाम्
नो सर्षपैस्त्रिचतुरैरपि तुल्यमेषः॥६२॥

भावानुवाद—यद्यपि व्रजकी सभी रमणियोंका प्रेम निरुपाधिक है, तथापि श्रीकृष्ण सर्वापेक्षा मुझमें ही अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं—ऐसी सबकी धारणा है। यह मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि वे मेरे प्रेमको सुमेरु पर्वतके समान असीम मानते हैं। किन्तु अन्य रमणियोंके प्रेमको तो वे तीन-चार सरसोंके दानोंके तुल्य भी नहीं मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः विचार करनेपर व्रजके अलावा कहीं भी विशुद्ध, अकैतव प्रेम परिलक्षित नहीं होता। द्वारकाकी महिषियोंके प्रेममें समय-समयपर काम भावका मिश्रण रहता है, किन्तु व्रजसुन्दरियोंका प्रेम सदैव स्व-सुख वासनासे रहित अकैतव होता है। इसीलिए इन व्रजसुन्दरियोंका प्रेम ही महाभावावस्थाको प्राप्त होता है। जैसा कि श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/१५६) में कहा गया है—

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः ।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥

इसमें भी मोदनाख्य-महाभाव एकमात्र श्रीराधिकाके यूथ श्रीललिता आदिमें सम्भव होता है, अन्य गोपियोंमें नहीं। जैसा कि श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/१७६) में कहा गया है—"राधिकायूथ एवासौ मोदनो न तु सर्वतः।"

इसमें भी मादनाख्य-महाभाव एकमात्र श्रीराधिकामें ही विराजित रहता है, अन्यत्र इसका उदय नहीं होता। यथा, श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/२१९) स्थायीभाव प्रकरणमें कथित है—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

अतएव श्रीराधिकाका प्रेम ही सर्वापेक्षा अत्यधिक है, इसे तत्त्व-विचारसे भी जाना जा सकता है॥६२॥

प्रेमानुरूपमयि रज्यति यत् परासु
रागानुरूपमिह दीव्यति नापराध्येत्।
दैवाद्व्यतिक्रममुपैति कदाचिदस्मात्
नासौ सुखी भवति तेन च मां दुनोति॥६३॥

भावानुवाद—अरी सखि! श्रीकृष्ण अन्य नायिकाओंके प्रेमके अनुरूप ही उनके प्रति अनुरक्त होते हैं। वे जितने परिमाणमें अनुरक्त होती हैं, तदनुरूप ही श्रीकृष्ण उनके साथ विहार करते हैं। इसमें श्रीकृष्णका कोई दोष नहीं है। किन्तु यदि कभी इस नियमका व्यतिक्रम होता है, तो उससे श्रीकृष्णको सुख प्राप्त नहीं होता और मुझे भी दुःख प्राप्त होता है।

अर्थात् प्रियाके प्रेमकी तुलनामें अधिक प्रीति दिखायी जाये अथवा अधिक विहार किया जाये तो उससे श्रीकृष्णको सुख प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि श्रीकृष्णकी आकांक्षाके अनुरूप आस्वादन देनेवाली उपयुक्त प्रीति उस नायिकामें नहीं होती। अतएव आकांक्षाकी अपूर्तिके लिए श्रीकृष्ण दुःखी होते हैं तथा श्रीकृष्णके दुःख पानेपर श्रीराधिका भी दुःखी होती हैं॥६३॥

सङ्केतगामपि विधाय मदेकतानो
मां नाजगाम यदिहाभवदन्तरायः।
रुद्धः कयाचिदनुरोधवशात् स रेमे
मद्दुःखचिन्तन दवार्द्दित एव रात्रिम्॥६४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण अपने साथ मिलनेके लिए मुझे सङ्केत देते हैं तथा मैं भी उस सङ्केतके स्थानपर अभिसार करती हूँ। परन्तु यदि उनका आगमन नहीं हो पाता, तो विघ्न ही उसका एकमात्र कारण होता है। वे मुझमें एकाग्रचित्त होकर भी अन्य किसी रमणीके

अनुरोधसे आबद्ध होकर उसके साथ रमण तो कर लेते हैं, किन्तु उस विहारसे उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सारी रात ही वे मेरे दुःख चिन्तारूप दावानलमें आकुल रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके विरहमें श्रीराधिकाको जो दुःख होता है, उससे विश्व-ब्रह्माण्ड ही शोक-सागरमें निमग्न हो जाता है। इसका कारण है कि साक्षात् श्रीकृष्ण अन्य नायिकाओंके द्वारा आलिङ्गित अवस्थामें भी श्रीराधिकाके विरह दुःखका स्मरणकर मूर्च्छित हो जाते हैं। यथा, श्रीउज्ज्वलनीलमणि (१४/१८१) में स्थायीभाव प्रकरणमें वर्णित है—"अत्रानुभावा गोविन्दे कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना", इसीलिए श्रीराधिकाने कहा है—श्रीकृष्ण अन्य नायिकाओंके पास जाकर भी मेरे दुःखकी चिन्तासे अशान्त रहते हैं॥६४॥

तेनैव मे हृदि महादवथुर्बभूव
मद्वेशभूषणविलासपरिच्छदादि ।
तन्मोदकृद्विफलतामगमत् किमद्ये-
त्याक्रन्दितं यदपि तर्हि तदन्वभूस्त्वम्॥६५॥

भावानुवाद—सखि! अन्य व्रजाङ्गनाओंके साथ विलास करते हुए मेरे दुःखकी चिन्ता करके श्रीकृष्ण जिस दुःखको पाते हैं, बस उसीके लिए मुझे अत्यधिक मानसिक सन्ताप होता है। "मेरा वेश, भूषण, विलास और सुन्दर वस्त्रादि धारण करना सब कुछ विफल हो गया। हाय! हाय! ये सब श्रीकृष्णके सुखमें नहीं लग सके"—ऐसा कहते हुए मैंने उस समय जो क्रन्दन किया था, तुमने उसे ही सुना है॥६५॥

प्रातस्तमत्यनुनयन्तमतर्जयं भो-
स्तत्रैव गच्छ सुखमाप्नुहि तत् पुनश्च।
रोषः स तत्सुखपरः प्रियतोत्थ एवे-
त्यालोचय व्रजभुवोऽप्यनुरागचर्याम्॥६६॥

भावानुवाद—प्रातःकाल जब श्रीकृष्णने मेरे निकट आकर अत्यधिक अनुनय किया, उस समय मैंने ऐसा कहकर क्रोधपूर्वक उनका तिरस्कार कर दिया कि तुम अपनी उसी प्रियतमा नायिकाके समीप

जाकर पुनः उसीके अङ्ग-सुखका उपभोग करो। मेरा यह क्रोध श्रीकृष्णके सुखको लक्ष्य करके ही हुआ था। मेरा आन्तरिक भाव था कि जहाँ उन्हें सुख नहीं मिलता है, वे वहाँ क्यों जाते हैं? यही मेरे क्रोधका कारण था, अतः यह क्रोध प्रेमके लिए ही था। श्रीकृष्णको सुख देनेके उद्देश्यसे जो चेष्टा होती है, वही प्रेम है। इस विचारके अनुरूप तुम श्रीवृन्दावनके अनुरागयुक्त क्रिया-कलापोंका सेवन अर्थात् चिन्तन-मन्थन करो। वे अति अद्भुत तथा अलौकिक हैं॥६६॥

अद्योतयं मुहुरहं निजकाममेव
किं मां विहाय रमयस्यपरां शठेति।
वाचा स चापि रतिचिह्नजुषा स्वमूर्त्त्या
व्यज्यैव काममथ मन्तुमुरीचकार॥६७॥

भावानुवाद—हे शठ! मेरा परित्याग करके तुमने अन्य नायिकाके साथ क्यों विहार किया? इस प्रकारकी भाषाके द्वारा मैंने बारम्बार काम-भाव अर्थात् अपनी इन्द्रिय-सुख-चरितार्थ करनेकी वासनाका भाव अभिव्यक्त किया था। श्रीकृष्णने भी रति-चिह्नाङ्कित अपने श्रीअङ्गके द्वारा अपने काम-भावको प्रकाशित करते हुए अपना दोष स्वीकार किया था॥६७॥

प्रेमा द्वयो रसिकयोरयि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चल एव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेत्
निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥६८॥

भावानुवाद—हे सखि! इसका कारण है कि प्रेमरूपी प्रदीप रसिक-नायक तथा रसिक-नायिका दोनोंके ही हृदयरूप गृहको प्रकाशित करता हुआ स्थिर-भावसे विराजित रहता है। किन्तु यदि मुखरूपी द्वारसे बाहर निकलता है, तब शीघ्र ही वह प्रदीप बुझ जाता है अथवा लघुताको प्राप्त होता है।

अर्थात् यदि प्रेम 'मैं तुमसे कितना प्यार करती हूँ'—इस प्रकारकी वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है, तब वह प्रेम अधिक रह नहीं सकता, रहनेपर भी उसका परिमाण कम हो जाता है॥६८॥

अन्तःस्थितस्य खलु तस्य रुचिच्छटाक्षि–
वातायनादधरगण्डललाटवक्षः ।
चारु प्रदीप्य तदभिज्ञजनं स्वभासो
विज्ञापयेदपि विलक्षणतामुपेताः ॥६९॥

भावानुवाद—हृदयरूपी गृहके बीचस्थित इस प्रेम-प्रदीपकी कान्ति-छटा प्रेमी-प्रेमिकाके नेत्ररूपी झरोखोंसे बाहर निकलकर अधर (औठ), गण्ड (कपोल), ललाट तथा वक्षःस्थलको उत्तम रूपसे प्रदीप्त कर देती है और वैशिष्ट्य-प्राप्त अपनी कोई एक अनिर्वचनीय दीप्ति (शोभा) को प्रेमतत्त्वके अभिज्ञजनोंके निकट सुप्रकाशित करती है।

अर्थात् प्रेमको मुखसे व्यक्त करना उचित नहीं है, उससे प्रेम क्षीण हो जाता है। किन्तु, व्यक्त न करनेपर भी प्रेमीजनके निकट यह अप्रकाशित नहीं रह पाता। हृदयमें प्रेमका आविर्भाव होनेपर चक्षु, कपोल, अधर, ललाट प्रफुल्लित हो जाते हैं और एक अपूर्व उत्फुल्ल भाव प्रकाशित होता है॥६९॥

कान्तेन किन्तु बहुवल्लभताजुषास्यात्
निष्क्रामितोऽपि स मुहुर्नहि याति शान्तिम्।
मिथ्यैकभाषणपटुत्वमयी प्रथास्य
कामं दिशेद् यवनिकेव पिधाय तं द्राक्॥७०॥

भावानुवाद—किन्तु, बहु रमणीवल्लभ-कान्त श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं—प्रियतमे! मैं तुम्हें कितना प्रेम करता हूँ, एकमात्र तुम्हीं मेरी प्राण हो। इस प्रकारकी वाणीके द्वारा वे प्रेमको निरन्तर प्रकट करते रहते हैं, परन्तु इससे उनके सम्बन्धमें प्रेम कभी भी क्षीण नहीं होता। इसका कारण यह है कि केवलमात्र मिथ्या-वचनोंका प्रयोग करना ही श्रीकृष्णका एक स्वभाव है। यह स्वभाव यवनिकाके (परदेके) समान 'प्रेम' को आच्छादित करके शीघ्र ही उसे 'काम' के समान प्रकाशित करता है। अर्थात् श्रीकृष्णकी जो समस्त उक्तियाँ मिथ्या रूपमें प्रतिपन्न हुई हैं, उनसे उनकी कामुकता ही प्रकाशित होती है॥७०॥

त्वय्येव मे प्रियतमेऽनुपमोऽनुरागः
स्वप्नेऽपि वस्तुमपरा किमु हृद्यपीष्टे।
इत्थं हरिर्वदति मानवतीः सदान्या
मां खण्डितान्तु रतिचिह्नभृदेव वक्ति॥७१॥

भावानुवाद—अन्य प्रेयसियोंके मानिनी होनेपर श्रीकृष्ण उनसे कहते हैं—"अरी प्रियतमे! एकमात्र तुम्हारे प्रति ही मेरा अतुलनीय अनुराग है। तुम्हारे अलावा अन्य रमणी क्या कभी भी मेरे हृदयमें स्थान प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकती है?" और जब मैं श्रीकृष्णके अङ्गोंमें अन्य नायिकाओंके सम्भोग-चिह्न देखकर खण्डिता होती हूँ, उस अवस्थामें भी वे मेरे साथ बातें करते हैं॥७१॥

मद्वक्त्रनेत्रसुषमासममाधुरीक-
सौन्दर्यवर्णनबलद्विजिहीर्ष एव।
प्राणास्त्वमेव हि ममेति वदन् व्यनक्ति
न प्रेम तत् सदपि किन्त्विह काममेव॥७२॥

भावानुवाद—उस समय श्रीकृष्ण मेरे मुख और नयनोंका सौन्दर्य, अतुलनीय लावण्य तथा माधुर्यका वर्णन करते-करते मेरे साथ विहार करनेके लिए अत्यन्त व्याकुल होकर—'तुम ही मेरी प्राण हो' इत्यादि वचनोंके द्वारा 'प्रेम' का प्रकाश न करके 'काम' भावका ही प्रकाश करते हैं॥७२॥

सन्तप्यते यदि पुनर्विरहाग्निपुञ्जै-
रुत्कण्ठया चुलुकितः स्वगभीरिमाब्धिः।
प्रेम व्यनक्ति दयितापि गिरा यथैव
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहेति पद्ये॥७३॥

भावानुवाद—किन्तु, हे सखि! प्रियतमा यदि विरहरूप अग्नि-पुञ्जसे अत्यधिक सन्तप्त होती है तथा यदि उसका गाम्भीर्यरूप समुद्र उत्कण्ठाके द्वारा एक गण्डूष (चुल्लू) में ही पी लिया जाये अर्थात् उत्कण्ठाके द्वारा यदि उसका गाम्भीर्य लुप्त होता है, तब वही प्रियतमा वाणीके द्वारा अपने प्रेमको प्रकाशित कर देती है।

श्रीमद्भागवतीय दशम-स्कन्धोक्त 'यत्ते सुजात' इत्यादि श्लोक इसका प्रमाण हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/३१/१९)

अर्थात् हे प्रियतम! तुम्हारे जिन अति सुकोमल श्रीचरणकमलोंको हम धीरे-धीरे डरती हुईं अपने कर्कश स्तनोंके ऊपर धारण करती हैं, उन्हीं सुकुमार चरणोंके द्वारा तुम वन-वनमें भ्रमण करते हो—क्या वे श्रीचरणकमल सूक्ष्म कङ्कड़-पत्थर तथा पाषाणादि द्वारा व्यथित (पीड़ित) नहीं होते? इस चिन्तासे तुम ही जिनकी आत्मा हो, उन हम सबकी बुद्धि भ्रमित हो रही है॥७३॥

तस्मिन् महाविरसतातितमस्यपारे
न प्राणवायुरपि सञ्चरितुं शशाक।
प्रेमप्रदीपवर एत्यति दीप्तिमेव
स्नेहो नु यत् प्रचुरतां चिरमाचिकाय॥७४॥

भावानुवाद—उस महाविरह दुःखरूप अन्धकारमें प्राणवायु भी संचरित होनेमें समर्थ नहीं होती, किन्तु उस समय प्रगाढ़ प्रेमरूपी-प्रदीप अत्यन्त उज्ज्वल हो उठता है और प्रचुर स्नेहरूप तैल रहनेके कारण दीर्घकाल तक प्रकाशित रहता है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके विरह-दुःखमें व्रजसुन्दरियोंके प्राण किसी भी प्रकारसे रह नहीं पाते। किन्तु, केवलमात्र अत्यधिक स्नेह रहनेके कारण ही उस समय प्रेम और भी प्रबल आकार धारण कर लेता है, इसीलिए उनके प्राण नहीं निकलते हैं॥७४॥

रासे मयैव विजहार विहाय सर्वा-
स्तत्रापि मां यदमुचत् शृणु तस्य तत्त्वम्।

प्रेमाम्बुधेर्व्रजपुरन्दरनन्दनस्य
मामेव मन्तुरधिकां न कदापि मन्तुः॥७५॥

भावानुवाद—रासमें श्रीकृष्णने समस्त गोपियोंका परित्याग करके केवल मेरे साथ विहार किया था। इसके बाद पुनः जो उन्होंने मुझे भी परित्याग कर दिया था—उसका कारण सुनो। प्रेमके समुद्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन मुझे ही सर्वाधिक प्रियतमा मानते हैं, इसमें उनका कोई भी अपराध नहीं है॥७५॥

अध्यास्य मामतुलसौभगदिव्यरत्न–
सिंहासनं बहुविलासभरैर्विभूष्य।
गच्छन् वनाद् वनमरीरमदेव कान्ता–
मन्यां पुनः स्मृतिपथेऽपि निनाय नायम्॥७६॥

भावानुवाद—इसका कारण है कि श्रीकृष्णने मुझे अनुपम सौभाग्यरूप दिव्य रत्न सिंहासनपर बैठाकर विविध प्रकारके विलासरूप आभूषणोंसे विभूषित करके एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते-करते रमण किया था। उस समय वे अन्य कान्ताओंको स्मृति-पथ पर नहीं लाये॥७६॥

किञ्चिन्मयैव मनसैव विचारितं त–
र्ह्येतं महोत्सवसुधाम्बुधिमत्यपारम्।
नैवान्वभून्मम सखीततिरावयोः सा
विश्लेषसञ्ज्वरधुता क्व नु किं करोति॥७७॥

भावानुवाद—उसी समय मैं मन-ही-मन चिन्ता करने लगी—हाय! मेरी सखियाँ इस अपार महासुखामृत समुद्रका अनुभव नहीं कर रही हैं। वे मेरे विरह-ज्वरमें अत्यधिक सन्तप्त होकर न जाने कहाँ-कहाँ भटक रही होंगी?॥७७॥

अत्रास्वहे यदि पुनः कतिचित् क्षणास्ता
आल्यो मिलन्ति रभसादभितो भ्रमन्त्यः।
इत्यभ्यधां प्रियतमाथ न पारयेऽहं
गन्तुं मुहूर्त्तमिह विश्रमणं भजेव॥७८॥

भावानुवाद—यदि हम दोनों इस स्थानपर क्षणभर भी बैठ जायें, तो इधर-उधर भटकती हुईं सखियाँ शीघ्र ही इस स्थानपर आकर हमें मिल सकेंगी। इस प्रकार चिन्ता करके मैंने कहा—हे प्रियतम! मैं अब और चल नहीं सकती, अतएव हमें कुछ समयके लिए इसी स्थानपर विश्राम करना चाहिये॥७८॥

तन्मे मनोगतमिदं सहसैव साधु
सर्वं विवेद स विदग्धशिरोमणित्वात्।
चातुर्य सम्पदतुलो रसिकाग्रगण्यः
किञ्चित् सपद्यथ हृदैव परामर्श॥७९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण विदग्ध-शिरोमणि हैं, अतः उसी समय मेरे मनोगत भावोंको सम्पूर्ण रूपसे समझ गये। अनन्तर चातुर्य सम्पद्‌वशतः अतुलनीय रसिक-अग्रगण्य श्रीकृष्ण मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगे— ॥७९॥

एतां नयन्नुपवने यदि वंभ्रमीमि
सम्भाविताल्यतिरुजा पुरुविद्धचित्ताम्।
किं स्यात् सुखं यदि दधे स्थितिमत्र गोप्यः
सर्वा मिलेयुरपि ताः कुटिलभ्रुवो माम्॥८०॥

एनां पुनश्चिरमनेकमुपालभेरन्
भङ्गश्च साम्प्रतिक केलिरसस्य भावी।
सम्पत्स्यतेऽद्य नहि रासविनोदनृत्यम्
तासु क्रुधा निजनिजं सदनं गतासु॥८१॥

भावानुवाद—यदि श्रीराधिकाको साथ लेकर इस उपवनमें भ्रमण भी करूँ, तो भी इन्हें तनिक आनन्द नहीं होगा, क्योंकि ये सखियोंके मनोदुःखकी सम्भावना करके अपने हृदयमें अत्यधिक पीड़ाका अनुभव कर रही हैं। अन्तरमें दुःख रहनेसे मिलनमें सुख नहीं मिलता। और यदि मैं इस स्थानमें तनिक भी ठहर जाता हूँ, तो सारी सखियाँ मिलकर ईर्ष्यावशतः मेरे प्रति कुटिल कटाक्ष करेंगी तथा राधिकाका भी बहुत समय तक अनेक प्रकारसे तिरस्कार करेंगी।

इससे हमारे बीच होनेवाला केलिरस भङ्ग हो जायेगा। विशेषतः क्रोधवश वे अपने-अपने घरोंकी ओर लौट जायेंगी, जिससे आज रास-नृत्य विनोदसम्पन्न नहीं हो सकेगा॥८०-८१॥

यत् प्रार्थितं स्वकुतुकेन पुरानयैव
शक्नोषि किं नु कुलजार्बुदलक्षकोटीः।
आलिङ्गितुं प्रियतम! क्षणमेकमन्वि
त्यास्ते दिदृक्षितमिदं मम पूरयेति॥८२॥

तस्मादिमामपि जहत् पलमात्रमेव
निर्दूषणां विनयिनीं प्रथमं विधाय।
मन्तुं स्वमूर्द्धन्यखिलमेव दधाम्यृणीस्याम्
ताः स्नेहयानि निखिला अपि सर्वथा स्याम्॥८३॥

भावानुवाद—सखि! श्रीकृष्ण मन-ही-मन और भी विचार करने लगे—यदि गोपाङ्गनाओंके साथ रास-नृत्य-विनोदसम्पन्न नहीं होता है, तो इस राधिकाने पहले जो कौतुकवश प्रार्थना की थी, हे प्रियतम! क्या आप एक साथ एक ही समयमें असंख्य कुलवती गोपियोंको आलिङ्गन कर सकते हैं? इसे देखनेके लिए मेरी लालसा जाग उठी है, मेरी इस लालसाको पूर्ण करो।—उसकी यह प्रार्थना भी पूर्ण नहीं हो सकती। अतएव प्रथमतः राधिकाका भी क्षणभरके लिए परित्याग करके स्व-सौभाग्यके कारण हुए इसके गर्वको दूरकर इसे विनम्र तथा दोषरहित करूँगा। इस प्रकार सारा दोष अपने मस्तकपर ग्रहणकर उन व्रजङ्गनाओंको यह दिखाऊँगा कि राधिकाका कोई दोष नहीं है, सारा दोष मेरा ही है। इधर राधिकाका त्याग करनेपर श्रीराधाकी प्रीतिके अनुरूप भजन न कर पानेसे मैं उसका ऋणी भी बना रहूँगा। इस प्रकार आचरण करनेपर सारी गोपियाँ राधिकाके प्रति स्नेहयुक्त हो जायेंगी॥८२-८३॥

वैश्लेषिकज्वरमपारमतुल्यमस्याः
सन्दर्श्य विस्मयमहाब्धिषु मज्जितानाम्।
स्वप्रेमगर्वमपि निर्धुनवान्यथैना-
न्ताभिर्महाधिकतमामनुभावयामि ॥८४॥

भावानुवाद—मेरे विरहके कारण राधिका द्वारा अनुभव अपार तथा अतुलनीय विरह-पीड़ाको अन्य व्रजसुन्दरियोंके समीप प्रकाशित करके उन्हें विस्मय-समुद्रमें निमग्न कराऊँगा। इससे वे समझ जायेंगी कि मेरे प्रति राधिकाका प्रेम कितना प्रगाढ़ है। इस प्रकार उन व्रजरमणियोंके हृदयमें अपनेको सर्वाधिक प्रेमवती माननेका जो गर्व है, उसे दूर करूँगा। तदनन्तर समस्त गोपियोंके हृदयमें 'श्रीराधिका ही हम सबकी तुलनामें श्रेष्ठतमा हैं'—इस प्रकारका विश्वास जाग्रत कर दूँगा॥८४॥

सम्भोग एष सकलाधिक एव विप्र-
लम्भोऽपि सर्वशतकोटिगुणाधिकोऽस्तु।
ताभ्यां शुचिः परमपुष्टिमुपैति चास्या-
न्ता ह्रेपयत्वलमिमान्तु गुरूकरोतु॥८५॥

भावानुवाद—जिस प्रकार सम्भोगरस राधिकामें ही सर्वाधिक रूपसे प्रकाश पाता है, उसी प्रकार विरह भी उनमें ही शतकोटिगुणा अधिक होता है—यह सब भी अन्य रमणियाँ समझ जायेंगी। केवलमात्र राधिकामें ही शृङ्गाररस—सम्भोग तथा विप्रलम्भ द्वारा अत्यधिक पुष्टि लाभ करके दूसरी व्रजसुन्दरियोंको लज्जित करे और वे सब राधिकाको ही गुरुके रूपमें प्रत्यक्ष रूपमें अनुभव कर सकें॥८५॥

कामीहरिर्भवति नो यदसौ विहाय
प्रेमाधिका अपि रहो रमते तु तस्याम्।
इत्थं वदन्त्य इह सम्प्रति या रुषास्याः
आलीस्तुदन्ति बहु नावपि दूषयन्ति॥८६॥

ता एव कोटिगुणिता विरहे त्वमुष्याः
प्रेमाग्निबाडवशिखाः परिचाययामि।
याभिर्बलादुपगतादवलिह्यमानाः
स्वप्रेमदीपदहनायितमेव विद्युः॥८७॥

भावानुवाद—हे सखि! श्रीकृष्णने अपने हृदयमें और भी एक विचार किया—"श्रीकृष्ण कामुक हैं, क्योंकि राधिकाकी तुलनामें

अधिक प्रेमवती हमारा परित्याग करके छिपकर उसके साथ रमण कर रहे हैं", जो व्रजाङ्गनाएँ क्रोधपूर्वक ऐसा कहकर राधिका-पक्षीय ललिता आदि सखियोंको पीड़ा प्रदान करती हैं तथा हम दोनोंके प्रति बहुत दोषारोपण करती हैं, मैं उन गोपियोंको अवगत करा दूँगा कि विरहावस्थामें राधिकाके प्रेमरूप बड़वानलकी शिखा कोटिगुणा अधिक वर्द्धित होती है। विरहिणी राधिकाके समीप आनेपर जब उसकी प्रेमाग्निकी शिखासमूह बलपूर्वक उन गोपियोंको जलाने लगेगी, तभी वे अपने प्रेमको क्षुद्र दीपककी अग्निके समान समझ सकेंगी॥८६-८७॥

एवञ्च सेत्स्यति मदीप्सितमैक्यमासाम्
रासाख्यनाट्यमनु मण्डलतां गतानाम्।
मध्ये मया सह रुचा तु विराजमाना-
मेनां विलोक्य न भवेदपि काचिदीर्षा॥८८॥

भावानुवाद—इस प्रकार राधाको भी मेरे वियोगमें रोदन करते देखकर अन्यान्य व्रजरमणियोंकी राधाके प्रति सहानुभूति हो जायेगी। इस प्रकार समस्त व्रजरमणियाँ मेरे अभिलषित एक समान मनोभावको प्राप्तकर एक साथ ही मुझे ढूँढ़ेंगी। रास-नृत्यके समय जब वे मण्डलाकारमें अवस्थित होंगी, उस समय उस मण्डलीके बीचमें राधिकाको मेरे साथ कान्तिमती रूपमें विराजमान देखकर भी उन्हें किसी प्रकारकी ईर्ष्या नहीं होगी॥८८॥

कष्टं कदापि सुखसम्पदुदर्कमेव
मित्राय मित्रमपि यच्छति तद्धितैषि।
तीव्राञ्जनैर्यदपि मूर्च्छयति स्वदृष्टि-
मायत्यतिद्युतिमतीं कुरुते जनस्ताम्॥८९॥

भावानुवाद—लोग जिस प्रकार भविष्यमें अपने नेत्रोंकी रोशनीको वर्धित करनेके लिए तीव्र काजल द्वारा अपने नेत्रोंको कुछ कष्ट देकर भी रञ्जित करते हैं, उसी प्रकार यदि हितैषी मित्र किसी समय अपने बन्धुओंको कष्ट भी देते हैं, तो उसका कारण भी भविष्यमें उन्हें सुखरूपी सम्पत्ति प्रदान करना ही होता है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि मैं राधाका परित्याग करके कुछ समयके लिए उसे विरह-पीड़ा प्रदान करूँगा, तथापि उससे हमारे भविष्यके मिलनमें परम सुखकी ही उपलब्धि होगी॥८९॥

इत्यात्तयुक्तिरुरसा सरसं वहन् माम्
गत्वा पदानि कतिचिन्मृदुलप्रदेशे।
अत्रास्यतां क्षणमपीति निधाय तत्रै-
वास्ते स्म मे नयनगोचरतां जहत् सः॥९०॥

भावानुवाद—हे देवि! मेरे प्रियतम इस प्रकार सोच-विचारकर अनुरागके साथ मुझे उठाकर कुछ कदम चलकर बोले, "प्रिये! क्षण काल इस स्थानपर बैठो"—ऐसा कहकर उन्होंने किसी एक कोमल स्थानपर मुझे बिठा दिया और वे उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये॥९०॥

दृष्ट्वा ममातिविकलत्वमपास्तधैर्यो
दातुं स्वदर्शनमियेष यदा तदैव।
गोप्यः सखीविततयश्च समेत्य ता मत्-
सन्धुक्षणे समयतन्त नितान्ततप्ताः॥९१॥

भावानुवाद—सखि! प्रियतम श्रीकृष्ण उस समय मुझे अत्यधिक विरहरूपी शोकसे आर्त्त देखकर स्वयं भी अत्यन्त अधीर हो गये थे तथा मुझे साक्षात् दर्शन देनेकी इच्छा कर ही रहे थे कि उसी समय अन्यान्य गोपियाँ और मेरी सखियाँ मेरे समीप आ गयीं तथा मेरे दुःखसे अत्यधिक दुःखित होकर मुझे सान्त्वना प्रदान करनेका प्रयत्न करने लगीं॥९१॥

यच्चावधीत् पुनररिष्टबकाघवत्सान्
विश्वद्रुहः कपटिनीमपि पूतनां ताम्।
दोषो न चायमपि तूच्चतरैव विष्णु-
शक्तिर्हरावजनि साधुजनावनीयम्॥९२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने जो बैलकी आकृतिवाले अरिष्टासुर, बकासुर, सर्पकी आकृतिवाले अघासुर, बछड़ेकी आकृतिवाले वत्सासुर तथा

कपट-वेषधारिणी पूतना राक्षसीका वध किया था, इसके द्वारा उनका कोई दोष नहीं हुआ। कारण, सज्जन-पालनकारिणी भगवान् विष्णुकी पराशक्ति श्रीकृष्णमें ही क्रोड़ीभूत रहती है तथा वही आविर्भूत होकर असुरोंका संहार करती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

स्वयं भगवानेर कर्म नहे भारहरण।
स्थितिकर्ता विष्णु करेन जगत-पालन॥
अतएव विष्णु तखन कृष्णेर शरीरे।
विष्णुद्वारे कृष्ण करे असुर-संहारे॥
(चै॰ च॰ आ॰ ४/८, १३)

अर्थात् पृथ्वीका भार हरण करना स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका कार्य नहीं है। स्थितिकर्त्ता विष्णु ही असुरोंका संहारकर जगत्का पालन करते हैं। अतएव श्रीकृष्णावतारके समय उनके शरीरमें रहनेवाले श्रीविष्णुने ही असुरोंका वध किया था, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णने नहीं॥९२॥

नारायणेन सदृशस्तनयस्तवाय-
मित्याह यद् व्रजपुरन्दरमेव गर्गः।
तत्साक्षिभूतमिह दैत्यवधादिकर्म
लोकोत्तरं समुदगाद् गिरिधारणादि॥९३॥

भावानुवाद—श्रीगर्गाचार्यने श्रीकृष्णके नामकरण-संस्कारके समय व्रजराज श्रीनन्दको कहा था—“हे व्रजराज! तुम्हारा यह पुत्र नारायणके समान है।” दैत्य-वधादि तथा गोवर्धन-धारणादि अलौकिक कार्य मुनिवरके उक्त वचनोंके साक्षीस्वरूप हैं॥९३॥

किञ्च स्फुरत्ययि यथा मम चेतसीदम्
तेनापि नापि कथितं मुनिपुङ्गवेन।
नारायणोऽप्यघभिदो नहि साम्यमस्य
रूपैर्गुणैर्मधुरिमादिभिरेतुमीष्टे ॥९४॥

भावानुवाद—किन्तु हे देवि! यद्यपि नामकरण संस्कारके समय मुनिवर गर्गने ऐसा नहीं कहा था कि श्रीनारायण रूप, गुण, माधुर्य

आदिमें कभी भी अघरिपु श्रीकृष्णका सादृश्य प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, तथापि मेरे मनमें स्वतः ही ऐसी स्फूर्ति होती है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/५९) में कहा गया है—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

यद्यपि श्रीलक्ष्मीकान्त नारायण और श्रीकृष्ण सिद्धान्त विचारसे स्वरूपतः अभिन्न हैं, तथापि आस्वादन विशेष परिपाटीसे श्रीकृष्णके साक्षात् मन्मथ-मन्मथ-स्वरूपमें वेणु-माधुरी, रूप-माधुरी, गुण-माधुरी तथा लीला-माधुरी—ये चार गुण अधिक रूपमें प्रकाशित रहते हैं॥९४॥

आकर्ण्य कर्णरमणीयतमाः प्रियाया
वाचो हरिः सरभसं पुनरभ्यधत्त।
प्रेमोक्त एव खलु लक्षितलक्षणो यः
सोऽयं त्वदाश्रयक एव मयाध्यबोधि॥९५॥

भावानुवाद—प्रियतमा श्रीराधिकाके इन कर्ण-रसायन और परमानन्दायक वचनोंको श्रवणकर देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण अत्यधिक कौतूहलके साथ फिर कहने लगे—राधे! तुमने प्रेमके जो लक्षण बतलाये हैं, उन लक्षणोंसे युक्त प्रेमकी तुम ही एकमात्र परमाश्रय हो—यह मैं भलीभाँति समझ गयी॥९५॥

दोषा अपि प्रियतमस्य गुणा यतः स्यु-
स्तद्दत्तकष्टशतमप्यमृतायते यत्।
तद्दुःखलेशकणिकापि यतो न सह्या
त्यक्त्वात्मदेहमपि यं न विहातुमीष्टे॥९६॥

योऽसन्तमप्यनुपमं महिमानमुच्चैः
प्रत्याययत्यनुपदं सहसा प्रियस्य।
प्रेमा स एव तमिमं दधती त्वमेव
राधे श्रुता खलु मयैव तथैव दृष्टा॥९७॥

भावानुवाद—प्रियसखि! तुमने जो कहा है—जिसे प्रियतमका दोष भी गुणके समान प्रतीत हो, जिसे प्रियतमके द्वारा दिया गया अनन्त कष्ट भी अमृतके समान प्रतीत हो, जिसे प्रियतमका अल्पमात्र दुःख भी सहन न हो, अपनी देह-त्याग करना स्वीकार होनेपर भी जिसे त्याग करनेका सामर्थ्य न हो तथा प्रियतमकी कोई महिमा न होनेपर भी जो वस्तु उनकी अनुपम महिमाका पद-पदपर अनुभव कराती हो—उसीका नाम प्रेम है। राधे! यह प्रेम केवल तुममें ही है, यह मैंने पहले हैमवतीकी सभामें श्रवण किया था, आज उसीको प्रत्यक्ष देख रही हूँ॥९६-९७॥

प्रेमी हरिर्नहि भवेदिति सत्यमेव
तच्चेष्टितैरनुमिमे तमिमे वदन्ति।
प्राणा मम त्वदनुतापदवाग्निदग्धाः
सख्यस्तवात्र निखिला अपि यत् प्रमाणम्॥९८॥

भावानुवाद—किन्तु सखि! यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण प्रेमवान नहीं हैं, इसे सत्य ही जानना। मैं उनके आचरणोंके द्वारा ऐसा अनुमान करती हूँ, तुम्हारे अनुताप रूप दावानलमें दग्ध मेरे प्राण भी यही कह रहे हैं तथा तुम्हारी सखियाँ भी इस विषयमें प्रमाण हैं॥९८॥

यच्च त्वयोक्तमिदमेव मनोगतं मत्-
प्रेष्ठस्य तत्तु वयमत्र कथं प्रतीमः।
नो तन्मुखात् त्वमशृणोर्न च तस्य सख्यु-
स्तौ वा जनुष्यभवतां क्व नु सत्यवाचौ॥९९॥

भावानुवाद—और तुमने जो रासादिके समय अपने परित्यागके विषयमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णके अभिप्रायोंको बतलाया, उनपर भी मैं कैसे विश्वास करूँ? इसका कारण है कि तुमने उनसे अथवा उनके किसी सखाके मुखसे यह बातें नहीं सुनी हैं और उनके मुखसे श्रवण करनेसे भी क्या होगा, क्योंकि उन्होंने अथवा उनके सखाओंमेंसे किसीने क्या इस जन्ममें कभी कुछ सत्य कहा है?॥९९॥

यर्ह्येव यद्यदयि मत्प्रियचेतसि स्यात्
तर्ह्येव तत्तदखिलं सहसैव वेद्मि।
राधे विदुष्यसि किमच्युतयोगशास्त्रम्
शक्नोषि येन परकायमनः प्रवेष्टुम्॥१००॥

भावानुवाद—तब श्रीराधिका बोलीं—सखि! मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके चित्तमें जब भी जिस भावका उदय होता है, मैं तभी उनके हृदयस्थित सब भावोंको समझ जाती हूँ। इसके उत्तरमें देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—राधे! क्या तुमने अच्युतके साथ संयोगके उपाय निरूपण करनेवाले शास्त्रोंका अध्ययन किया है? अर्थात् क्या तुमने अच्युतयोग-शास्त्रका अध्ययन किया है जिससे कि तुम श्रीकृष्णके तन तथा मनमें प्रवेश करनेमें समर्थ हुई हो?॥१००॥

देवीजनोऽस्य विरताच्युतयोगसिद्धि-
व्यग्रस्तथा कथमहो वत मानुषी स्याम्।
यत् पृच्छसीदमयि वक्तुमशेषमीशे
चेद् विश्वसिष्यपरथा तु कथा वृथैव॥१०१॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाजीने कहा—तुम देवी हो, अतएव अच्युतयोग-सिद्धिके लिए निरन्तर व्यग्र हो। मैं तो मानुषी हूँ, तुम्हारी समानता किस प्रकार कर सकती हूँ? तुम्हारा प्रश्न है कि मैं किस प्रकार प्रियतमके मनके भावोंको जान लेती हूँ? यदि तुम मेरी बातोंका विश्वास करो, तो मैं तुम्हें सब कुछ बतला सकती हूँ, अन्यथा व्यर्थकी बातोंका क्या प्रयोजन है?॥१०१॥

प्रत्यायनेऽस्ति यदि युक्तिरतिप्रभावः
किंवालि ते कथमिदं न वयं प्रतीमः।
नो चेत् प्रियस्तव गुणार्णव एव किन्तु
प्रेमी भवेदयमिदन्तु मतं तवैव॥१०२॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाकी बात सुनकर देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—अरी राधे! यदि तुम मुझे विश्वास दिलानेके लिए युक्ति दे

सकोगी और यदि मेरा विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ होओगी, तो मैं क्यों नहीं विश्वास करूँगी? तुम्हारे प्रिय श्रीकृष्ण गुणोंके समुद्र हैं—यह बात सत्य है, किन्तु वे प्रेमवान हैं—यह केवल तुम्हारा ही मत है॥१०२॥

प्रेष्ठः परो भवति तस्य मनो न बुध्य
इत्येव भात्यनुभवाध्वनि हन्त यस्याः।
सैवोच्यतां नु परकायमनः प्रवेश–
विद्यावतीति परिहासविदा त्वयाद्य॥१०३॥

भावानुवाद—श्रीराधिका बोलीं—प्रिय सखि! तुम परिहास करनेमें बड़ी चतुर हो। इसका कारण है कि अभी जिसे तुम प्रियतम अथवा अन्योंके शरीर और मनमें प्रवेश करनेकी विद्यामें निपुण कह रही हो, किन्तु फिर उसे ही प्रियतमके मनको न समझनेवालेके रूपमें अनुभव कर रही हो॥१०३॥

राधे! तदा विलपितं किमिति त्वयोच्चै–
र्ज्ञात्वा हृदस्य सुखिनी कथमेव नाभूः।
सत्यं ब्रवीष्यपि तु देव्यवधेहि कापि
शक्तिर्विवेकभिदभूत्तददर्शनस्य ॥१०४॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—हे राधे! यदि तुम अपने प्रियतम श्रीकृष्णके मनको जानती हो, तो फिर उस समय श्रीकृष्ण द्वारा परित्याग किये जानेपर तुम क्यों इतने ऊँचे स्वरसे विलाप करने लगीं? श्रीकृष्णके हृदयको जानकर तुम उस समय सुखी क्यों नहीं हुईं?

श्रीराधिका बोलीं—देवि! तुम सत्य कह रही हो, किन्तु ध्यानपूर्वक सुनो। यद्यपि मैं श्रीकृष्णके हृदयकी बातको जानती थी, फिर भी उनके वियोगमें एक ऐसी अनिर्वचनीय विवेक-हारिणी शक्ति थी, जिससे उस समय मुझे तन-मनकी कोई सुध-बुध ही नहीं रही॥१०४॥

त्वं वेत्सि तन्मन इहास्तु न मे विवादो
गान्धर्विके! तव मनः स हि वेद नो वा।

वेदेति किं भणसि भोः शृणु यद्रहस्यम्
तत्त्वं त्वया यदभवं तरलीकृतैव॥१०५॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—गान्धर्विके! तुम जो श्रीकृष्णका मन जानती हो, इसमें मेरा कोई विवाद नहीं है, किन्तु वे तुम्हारा मन जानते हैं कि नहीं, यही मेरी जिज्ञासा है? तब श्रीराधिका बोलीं—सखि! श्रीकृष्ण मेरे मनको जानते हैं कि नहीं इस विषयमें तुमने यह कैसी जिज्ञासा की है? इसका जो रहस्य है, उसे बतला रही हूँ, सुनो। आज मैं तुम्हारे द्वारा तुम्हारे प्रेममें बड़ी चपल हो रही हूँ, इसलिए यह बात अन्यत्र कथनीय नहीं होनेपर भी तुम्हारे सम्मुख प्रकट कर रही हूँ॥१०५॥

राधे! जनोऽयमयि यत् तरलीकृतोऽभूत्
प्रेम्ना त्वयैव तदपृच्छमिदं स्वधार्ष्ट्यम्।
शुश्रूषते श्रवणमस्य यथा रहस्यम्
वक्तुं तथार्हसि न गोपय किञ्चनापि॥१०६॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—अरी राधे! मैंने जिस रहस्यके विषयको श्रवण करनेके लिए इच्छा अभिव्यक्त की है, यद्यपि उससे मेरी धृष्टता ही प्रकाशित हो रही है, तथापि तुम्हारी प्रीति द्वारा चञ्चल होकर तुमसे यह प्रश्न कर रही हूँ। इस वृत्तान्तका श्रवण अति रहस्यपूर्ण होनेपर भी तुम्हारी यह सखी उसे जिस रूपमें सुनना चाहती है, तुम्हारे द्वारा ठीक उसी रूपमें वर्णन करना ही उचित है तथा कुछ भी गोपन करना अनुचित है॥१०६॥

अन्योन्यचित्तविदुषौ नु परस्परात्म-
नित्यस्थितेरिति नृषु प्रथितौ यदावाम्।
तच्चौपचारिकमहो द्वितयत्वमेव
नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ॥१०७॥

भावानुवाद—श्रीराधिका बोलीं—हम परस्पर एक दूसरेके चित्तमें नित्य विराजमान रहते हैं, अतएव हम दोनों ही एक दूसरेके मनकी बात जानते हैं,—जनसाधारणमें जो ऐसा प्रवाद है, वह केवल

आरोपमात्र है। इसका कारण है कि हम दोनों 'एकात्मा' हैं, अतः एक आत्माका दो होना कभी भी सम्भव नहीं है॥१०७॥

एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक–
नालोत्थमब्जयुगलं खलु नीलपीतम्॥१०८॥

भावानुवाद—जिस प्रकार एक सरोवरमें एक ही नालसे उत्पन्न नीलवर्ण तथा पीतवर्णके दो कमल विकसित होते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त गम्भीर, परम रसमय एक आत्मासे नील तथा पीत वर्ण हमारी दो देह एक ही प्राणरूप सूत्रमें संग्रथित हैं। अर्थात् हम दोनोंका देहगत पार्थक्य तो है, किन्तु स्वरूपगत पार्थक्य नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण स्वरूपतः आनन्द हैं और मैं स्वरूपतः ह्लादिनी हूँ। शक्ति तथा शक्तिमानका, अग्नि और अग्निकी दाहिका शक्तिकी भाँति कोई पार्थक्य नहीं है।

जब तक स्वरूप और शक्तिकी ओर दृष्टि रहेगी, तब तक हमलोगोंमें भेद नहीं देखा जा सकता है। किन्तु, परस्पर आस्वादनगत विचारसे हमलोग मूर्त्त रूपमें राधा और कृष्णनामसे अलग–अलग रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। इसका कारण है कि लीलाके बिना एक–दूसरेकी विशेषताएँ आस्वादन नहीं होती तथा मूर्त्त हुए बिना अर्थात् देहधारण किये बिना भी लीला नहीं होती। इसी अभिप्रायसे श्रीगोपालचम्पूः (पूर्वविभाग १५/९) में कहा गया है—

इमौ गोरिश्यामौ मनसि विपरीतौ बहिरपि
स्फुरत्तद्वद्वस्त्राविति बुधजनैर्निश्चितमिदम्।
स कोऽप्यच्छप्रेमा विलसदुभयस्फूर्तिकतया
दधन्मूर्तीभाव पृथगपृथगप्याविरुदभूत्॥

अर्थात् ये श्रीराधाकृष्ण अपने–अपने हृदयमें विपरीत हैं अर्थात् श्रीराधाके हृदयमें पूर्ण रूपसे श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं और श्रीकृष्णके हृदयमें उसी प्रकार राधाजी विराजमान रहती हैं। बाहरमें

भी श्रीराधा श्रीकृष्णकी अङ्गकान्तिकी भाँति श्यामरङ्गका वस्त्र पहनती हैं और श्रीकृष्ण भी श्रीराधाकी अङ्गकान्तिके समान पीताम्बर वस्त्र धारण करते हैं। इसे देखकर तत्त्वविद पण्डितगण यही निर्देश करते हैं कि कोई एक अनिर्वचनीय पवित्र प्रेम स्फूर्ति रूपसे विलास करनेके लिए मूर्त्तिभाव ग्रहणकर पृथक् और अपृथक् रूपमें आविर्भूत हुआ हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मनावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ॥
(चै॰ च॰ आ॰ ४/५५)

राधाकृष्ण एक आत्मा, दुई देह धरि'।
अन्योन्ये विलासे रस आस्वादन करि'॥
(चै॰ च॰ आ॰ ४/५६)

श्रीमती राधिका कृष्णप्रेमकी विकारस्वरूपा हैं (अर्थात् कृष्णप्रेमकी घनीभूत अवस्था महाभावकी मूर्त्ति हैं), कृष्णकी प्रेमविलासरूपा ह्लादिनीशक्ति हैं। श्रीराधा एवं कृष्ण एकात्मा होते हुए भी विलास तत्त्वकी नित्यता हेतु अनादिकालसे गोलोक वृन्दावनमें पृथक्-पृथक् देह धारणकर विद्यमान हैं॥१०८॥

यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक-
वर्त्त्यग्रवर्त्त्यमलदीपयुगं चकास्ति।
तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष-
मानन्दयेदखिलपार्श्वगताः सदालीः॥१०९॥

भावानुवाद—जिस प्रकार बहुत अधिक तेलसे परिपूर्ण एक ही पात्रमें स्थित एक बातीके दोनों मुखोंके अग्रभागको प्रज्वलित करनेपर उस बातीके दोनों मुख दोनों ओरके अन्धकारको साक्षात् रूपसे नाश कर देते हैं, उसी प्रकार एक ही आत्मामें, एक प्राणमें बद्ध हमारी दो देह एक दूसरेके दुःखरूप अन्धकारको दूर करके समीप स्थित सखियोंको भी आनन्दित करते हैं॥१०९॥

यद्यापतेद् विरहमारुत एतदात्त–
कम्पं भवेद् युगपदेव भजेच्च मूर्च्छाम्।
व्यग्रा सदाल्यथ तदावरणे यतेत
तत् सुस्थयेच्च सुखसद्मगतं विधाय॥११०॥

भावानुवाद—सखि! जब विरह–वायु उपस्थित होती है, तब हमारे देहरूप दोनों प्रदीप कम्पित होकर एक ही समयमें मूर्च्छित हो जाते हैं। उस समय निपुण सखियाँ व्याकुल होकर उस विरह–वायुको रोकनेका प्रयास करती हुई हम दोनोंको एक–दूसरेके सङ्गरूप सुखसद्म (भवन) में प्रवेश करवाकर स्वस्थ करती हैं॥११०॥

सन्दर्शितं तदिदमद्य रहस्यरत्नम्
स्वस्वान्तसम्पुटवरं स्फुटमुद्घटय।
सन्देहसन्तमसहारि तवास्तु भव्ये
हृद्येव धार्यमनिशं न बहिः प्रकाश्यम्॥१११॥

भावानुवाद—हे कल्याणि! आज मैंने इस प्रेमरूप परम गोपनीय रत्नको अपने हृदयरूप श्रेष्ठ सम्पुटसे पूर्ण रूपसे उद्घाटितकर तुम्हारे सामने प्रदर्शित किया है। यह तुम्हारे सन्देहरूप अन्धकारको सम्पूर्ण रूपसे दूर करे। तुम सदैव इसे अपने हृदयमें ही धारण करना और कभी भी बाहर प्रकाशित मत करना॥१११॥

कृष्णो जगाद सखि! यद् यदिदं त्वयोक्तम्
तत्तत् सयुक्तिकमधारयमेव सर्वम्।
चेतस्तु मे शठमहो हठवर्त्त्यवश्यम्
तत्ते परीक्षितुमिहेच्छति किं करोमि॥११२॥

भावानुवाद—देवाङ्गना–वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—हे सखि! तुमने जो कुछ भी कहा, उन सब बातोंको युक्तियुक्त समझकर मैंने अपने हृययमें धारण कर लिया है। किन्तु मेरा चित्त बड़ा ही शठ है, वह तुम्हारे कथनकी अवश्य ही परीक्षा करना चाहता है। इस विषयमें मैं क्या करूँ?॥११२॥

त्वं वर्त्तसेऽत्र स तु साम्प्रतमात्मतात
गेहे कदाचिदवनाय गवां वनेऽपि।
आत्मैक्यमालि युवयोर्यदिह प्रतीम–
स्तत् किं परीक्षणमृते समुपैति सिद्धिम्॥११३॥

भावानुवाद—हे सखि! तुम यहाँ बैठी हो और तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण इस समय पितृगृहमें होंगे अथवा गोपालनके लिए वनमें गये होंगे। तुमलोगोंकी जो एकात्मता अर्थात् एकप्राणता है, यद्यपि मैंने उस पर विश्वास कर लिया है, किन्तु, वह परीक्षाके बिना प्रमाणित नहीं हो सकती है॥११३॥

यैव स्मृतिः सुमुखि! यस्य यथा यदा ते
सैवास्य चेद् भवति तर्हि तथा तदैव।
प्रत्यक्षमेव यदि तां कलयामि सम्प्र–
त्यत्रैव वा सखि तदैव दधे प्रतीतिम्॥११४॥

भावानुवाद—हे सुमुखि! जिस समय तुम्हारे चित्तमें जिस वस्तुकी जैसी स्मृति जिस प्रकारसे होती है, उन श्रीकृष्णके चित्तमें यदि उसी समय उस वस्तुकी वैसी स्मृति उसी प्रकारसे हो और उसे यदि मैं अभी इसी स्थानपर प्रत्यक्ष देख पाऊँ, तो हे सखि! मेरी प्रतीति दृढ़ हो सकती है॥११४॥

दूरेऽथवा निकट एव स ते प्रियः स्या–
देहीह सत्वरमिति स्मृतमात्र एव।
आयाति चेत् तव समक्षमयं तदा वा–
मात्मैक्यमित्यवगमो धिनुयात् सदा माम्॥११५॥

भावानुवाद—तुम्हारे प्रियतम निकट रहें, अथवा दूर रहें, 'यहाँ शीघ्र आगमन करो'—तुम्हारे इस प्रकार स्मरणमात्रसे ही यदि वे तुम्हारे सम्मुख आकर उपस्थित हों, तभी तुम दोनों एकात्मा हो, यह बोध मुझे सर्वदा सुख प्रदान करेगा॥११५॥

विघ्नः क्वचित् तु गुरुनिघ्नतयापि दैवाद्–
दैत्यागमादपि कुतश्चन वापिहेतोः।
अन्योन्यमप्यतनु वां स्मरतो यदि स्या–
न्नो सङ्गतिस्तदिह नास्तितमां विवादः॥११६॥

भावानुवाद—किन्तु, तुम दोनोंके द्वारा एक दूसरेका अत्यधिक स्मरण करनेपर भी यदि किसी समय गुरुजनोंकी पराधीनतावशतः अथवा दैवात् दैत्य आगमनके कारण अथवा किसी अन्य कारणसे विघ्नवशतः तुम्हारा मिलन नहीं होता है, तो इसमें मेरा कोई विवाद नहीं है॥११६॥

यद्यप्यमुं गुरुपुरे सखि सङ्कुचन्ती
नैवाह्वयस्यभिसरस्यत एव दूरम्।
किञ्चैकदापि न तदागममीहसे त्वम्
स्वार्थन्त्विदन्तु नितरां मदिराक्षि विद्मः॥११७॥

कृष्णप्रिये सखि! तदप्यधुना ममानु–
रोधादमुं स्मर स एतु सुखं तनोतु।
नात्रास्ति ते गुरुजनागमनावकाशो
मत्संशयोत्थमपि खेदमपाकरोतु॥११८॥

भावानुवाद—हे सखि! हे मदिराक्षि (मद–मत्तनेत्रोंवाली)! यदि तुम गुरुजनोंके घरमें उनके भयसे संकुचित होकर अपने प्रियतम श्रीकृष्णको अपने समीप बुला नहीं पाती हो, तब तुम स्वयं ही दूरस्थित उनके समीप अभिसार करती हो और अपने सुखके लिए कभी भी उनके आगमनकी इच्छा नहीं करती हो—यह मैं उत्तम रूपसे जानती हूँ। तथापि हे सखि! हे कृष्णप्रिये! मेरे अनुरोधवशतः केवल एकबार श्रीकृष्णका स्मरण करो। वे यहाँ पधारें तो मैं उन्हें देखकर सुखी हो जाऊँगी। विशेषतः इस समय तुम्हारे गुरुजनोंके यहाँ आगमनकी कोई आशङ्का नहीं है। अतएव तुम निःसङ्कोच होकर मेरे संशयसे उत्पन्न दुःखको दूर करो॥११७–११८॥

इत्यर्थिता सरभसं वृषभानुकन्या
सन्यायमाह नय मा हसनीयतां माम्।
ब्रूषे यथैव करवाणि तथैव नो चेत्
प्रेमैव धास्यति रुजं चिरमात्तलज्जः॥११९॥

भावानुवाद—देवाङ्गना-वेषधारी श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर वृषभानुदुलारी श्रीराधिका युक्तिपूर्वक बोलने लगीं—हे सखि! मुझे उपहासका पात्र मत बनाओ। तुमने जो कुछ कहा है, यदि मैं वह न कर सकी तो मेरा प्रेम ही लज्जित हो जायेगा और मैं चिरकाल तक दुःखी रहूँगी॥११९॥

वृन्दारकेड्य! भगवन्! मदभीष्टदेव!
श्रीभास्कर! त्रिजगदीक्षणसौख्यदायिन्।
मत्सर्वकामद! कृपामय पद्मिनीश!
सत्यानृताद्यखिलसाक्षितया प्रतीत॥१२०॥

गान्धर्विकागिरिधरौ भवतः सदैका-
त्मानावितीयमनृता न यदि प्रथास्ति।
सम्प्रत्यसौ गिरिधरोऽत्र तदाददानो
मन्नेत्रयोः परिचयं स्वमुदेऽभ्युदेतु॥१२१॥

भावानुवाद—हे देवाराध्य! हे त्रिजगत्-वासी प्राणियोंको दर्शन-सुख प्रदान करनेवाले! हे मेरे सर्वाभीष्ट प्रदानकारी! हे कृपामय! हे पद्मिनीश! हे सत्य-मिथ्या सभीके साक्षीस्वरूप! हे मेरे उपास्य देवता! भगवान् सूर्यदेव! 'राधाकृष्ण सर्वदा ही एकात्मा हैं'—यह जनश्रुति यदि सत्य है, तो श्रीकृष्ण अभी मेरे अन्तरङ्ग परिजनोंको सुखी करनेके लिए मेरे नेत्रोंके समक्ष साक्षात् आविर्भूत हों॥१२०-१२१॥

उक्त्वेदमेव वृषभानुसुतात्मकान्तम्
ध्यातुं समारभत मीलितनेत्रयुग्मा।
सा योगिनीव विनिरुद्धहृषीकवृत्ति-
रास्ते स्म यावदविखण्डितमौनमुद्रा॥१२२॥

तावद्विहाय सहसैव हरिः स योषि-
द्वेशं सखीः स्वमखिलाः परिचिन्वतीस्ताः।
भ्रूसंज्ञयैव विदधन्निजपक्षपाते
चुम्बन् प्रियां मुहुरवारितमालिलिङ्ग॥१२३॥

भावानुवाद—ऐसा कहकर वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका अपने दोनों नेत्रोंको बन्द करके अपने कान्त श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं। वे जब योगिनीकी भाँति इन्द्रिय-वृत्तियोंको संयत करके मौनमुद्राधारण कर बैठ गयीं, उसी समय श्रीकृष्णने सहसा स्त्रीवेषका परित्यागकर अपनी परिचित सभी सखियोंको भ्रूकुटि-सङ्केत द्वारा इङ्गित करके अपने पक्षमें कर लिया तथा प्रेयसीको बारम्बार अनिवारित (बेरोकटोक) भावसे चुम्बन करते हुए आलिङ्गन करने लगे॥१२२-१२३॥

रोमाञ्चिताखिलतनुर्गलदश्रुसिक्ता
ध्यानागतं तमवबुध्य बहिर्विलोक्य।
आनन्दलीनहृदया खलु सत्यमेव
योगिन्यराजत निरञ्जनदृष्टिरेषा॥१२४॥

भावानुवाद—उस समय श्रीराधाके समस्त अङ्ग रोमाञ्चित हो गये तथा उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। जैसे ही ध्यानमें उन्होंने समझ लिया कि प्रियतम श्रीकृष्ण आ गये हैं, तब नेत्र खोलकर बाहरसे भी श्रीकृष्णका दर्शन करके आनन्द समुद्रमें निमग्न हो गयीं। उस समय श्रीराधिका सचमुच ही योगिनीकी भाँति निरञ्जन दृष्टिवाली हो गयीं अर्थात् वे ब्रह्मका साक्षात्कार करने लगीं। पक्षान्तरमें अश्रुओंसे आँखोंके अञ्जनको धोने लगीं॥१२४॥

संज्ञां क्षणादलभताथ पटाञ्चलेन
वक्त्रं पिधाय सुदृगातनुते स्म लज्जाम्।
तं प्राह सैव ललिता किमहो विलासि-
न्नागा अलक्षितमिह त्वमतीव चित्रम्॥१२५॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् क्षण-काल बाद चेतना प्राप्त करके सुलोचना (सुन्दर नेत्रोंवाली) श्रीराधिकाने लज्जित होकर वस्त्राञ्चलके

द्वारा अपने मुखको आच्छादित कर लिया। उसी समय श्रीललिता नागर-शिरोमणि श्रीकृष्णसे बोलीं—अहो विलासिन! तुम अलक्षित रूपमें अर्थात् दूसरोंसे छिपकर यहाँ आ गये हो, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है॥१२५॥

अन्तःपुरे कुलवधूकुलमात्रगम्ये
शक्तो न यत्र पवनोऽपि हठात् प्रवेष्टुम्।
तत्रेति यस्तु गतभीः पुरुषः स एष
गण्योऽतिसाहसिकशेखर एक एव॥१२६॥

भावानुवाद—एकमात्र कुलवधुओंके प्रवेश योग्य इस अन्तःपुरमें वायु तक प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं होती, अतः जो पुरुष यहाँ निर्भय होकर प्रवेश करे, उसे ही अत्यन्त साहसिकोंके शिरोमणि रूपमें मान लेना चाहिये॥१२६॥

तत्रापि मद्विधसखीजनपालितायाः
साध्वीकुलाप्लवनकीर्त्तिसुरापगायाः ।
स्नात्वैव मित्रयजनाय कृतासनाया-
स्तं ध्यातुमेव विनिमीलितलोचनायाः॥१२७॥

अङ्गं बलात् स्पृशसि यद्वृषभानुपुत्र्या
देवात् ततो दिनपतेरपि नो विभेषि।
न त्वं किमत्र गणयिष्यसि लोकधर्मौ
लज्जा तु केयमिति नहि पर्यचैषीः॥१२८॥

भावानुवाद—जिनकी मुझ जैसी प्रखरा (प्रचण्ड) सखियाँ सदैव रक्षा करती रहती हैं, जिनकी कीर्त्तिरूपा मन्दाकिनीमें साध्वी रमणियाँ श्रवण-कीर्त्तनरूप स्नान करके पवित्रता लाभ करती हैं, अर्थात् जो परम सती हैं—जिनके पातिव्रत्यधर्मकी अरुन्धती भी वाञ्छा करती हैं। जो स्नान समाप्त करके मित्रदेव (सूर्यदेव) की पूजा करनेके लिए, अर्थात् सूर्यपूजाके बहाने अपने प्राणबन्धु श्रीकृष्णकी सन्तुष्टिके लिए उनका ध्यान करनेके उद्देश्यसे दोनों आँखोंको मूँदकर आसनपर बैठी हैं, उसी वृषभानु-राजकन्या श्रीराधिकाके अङ्गोंका जो तुम बलपूर्वक

स्पर्श कर रहे हो, क्या तुम्हें सूर्यदेवसे भी भय नहीं लगता? लज्जा किसे कहते हैं, उसे तो तुम जानते ही नहीं हो, लोकमर्यादा तथा धर्ममर्यादाकी भी तुम कुछ गणना ही नहीं करते?॥१२७-१२८॥

तन्माधवाद्य तव दिष्टमहं स्तुवे य–
दार्या गृहे नहि नापि पतिः स कोपी।
सख्योऽबला वयमहो करवाम किं ते
भद्रेण लम्पटवर त्वमितोऽवितोऽभूः॥१२९॥

भावानुवाद—हे माधव! आर्या (सास) जटिला और वह क्रोधी पति भी घरमें नहीं है। अतएव तुम्हारे सौभाग्यकी मैं प्रशंसा करती हूँ। हम सब सखियाँ तो अबला हैं, अतः हम तुम्हारा क्या कर सकती हैं? हे लम्पटवर! सौभाग्यवश आज सकुशलपूर्वक ही तुमने इस विपत्तिसे रक्षा पायी है।

यहाँ श्रीललिताके श्लेषपूर्ण वचनोंका एक और भी अभिप्राय ध्वनित होता है, यथा—हे कृष्ण! इस समय श्रीराधाकी सास जटिला तथा क्रोधी पति घरमें नहीं हैं। मैं इसकी सखी हूँ और सदैव इसके सुखकी अभिलाषा करती हूँ। अतएव तुम बिना किसी संकोचके सखी श्रीराधिकाके साथ विहार करो॥१२९॥

कृष्णोऽब्रवीत् कमपि नैव दधामि मन्तुम्
गोशालचत्वरमनुश्रितखेलनोऽहम्।
दैवात् समस्मरमिमामथ सद्य एव
दैवेन केनचिदिवागमितोऽप्यभूवम्॥१३०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने प्रत्युत्तरमें कहा—ललिते! इस विषयमें मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं गोशालाके प्राङ्गणमें क्रीड़ा कर रहा था। दैवात् श्रीराधिकाका मुझे स्मरण हो आया। तदनन्तर कोई देवता ही उसी क्षण मुझे यहाँ ले आये॥१३०॥

राधाभ्यधत्त ललिते! क्व नु वर्त्ततेऽसौ
देवी प्रतीतिमुपयाति विलोक्य नो वा।

देवी तु दीव्यति दृशैव गताधिरेत–
द्धामान्तरत्र मुदमातनुते ततो नः॥१३१॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाजी बोलीं—सखि ललिते! वह देवी इस समय कहाँ है? मेरे स्मरणमात्रसे ही श्रीकृष्णने यहाँ आगमन किया है, यह देखकर मेरे द्वारा पूर्व कथित वचनोंमें उसे विश्वास हुआ कि नहीं? ललिता बोलीं—तुम दोनोंका मिलन देखकर वह देवी संशयसे रहित हो गयी, अतः उसकी मनःपीड़ा भी दूर हो गयी है। इस समय वह इस घरमें ही विराजमान हो रही है तथा वहाँ विराजित होकर हमारा भी हर्ष-विधान कर रही है॥१३१॥

देवीति कां भणसि तां परिचाययात्रे–
त्युक्त्वा सखीं हरिरथाब्रुवदब्रुवाणाम्।
आं ज्ञातमद्य ललिते खलु धूर्त्तता वो
व्यक्तेयतैव समयेन बभूव दिष्ट्या॥१३२॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्ण बोले—तुमलोग जिसे देवी कह रही हो, मुझे भी उसका परिचय प्रदान करो। श्रीललितासे इसका कोई उत्तर न पाकर पुनः श्रीकृष्ण कहने लगे—अहो! समझ गया। सौभाग्यवशतः आज अति अल्प समयमें ही मैं तुम्हारी धूर्त्तता समझ गया हूँ॥१३२॥

काप्यत्र सिद्धवनिता किमु खेचरी वा
देवी समेति तत एव गृहीतविद्या।
मामत्यवश्यमियमात्मवशे विधाय
दासीयति प्रतिदिनं प्रसभं प्रकृष्य॥१३३॥

भावानुवाद—किसी सिद्ध रमणी अथवा किसी आकाश-चारिणी देवीका तुम्हारे घरपर आगमन हुआ होगा। तुम्हारी सखी राधिकाने उससे कोई सिद्ध मन्त्र सीखकर मुझे, जो किसीके भी वशीभूत नहीं होता, उसे भी वशीभूत कर लिया है तथा बलपूर्वक प्रतिदिन मुझे आकर्षण करके मुझे दास बनाना चाहती है॥१३३॥

सैवाद्य मह्यमपि कञ्चन मन्त्रमेकम्
राधे ददातु भव भाविनि मे सहाया।

शिष्यं त्वमेव कुरु मामथवा प्रपन्न–
मुत्कण्ठितं रहसि कुत्रचनापि नीत्वा॥१३४॥

भावानुवाद—हे श्रीराधे! वे देवी मुझे भी कोई एक मन्त्र प्रदान करें। अरी भाविनि! मुझे मन्त्र दिलानेमें तुम मेरी सहायता करो। अति उत्कण्ठाके साथ मैं तुम्हारे शरणागत हुआ हूँ। तुम मुझे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर अपना शिष्य बना लो॥१३४॥

वंश्येव राजतितमामतिसिद्धविद्या
साङ्कं तवानयति साधुसतीः पुरस्त्रीः।
ताञ्चापि चोरयसि यर्हि तदा गतिर्मे
का स्यादतो नहि तयापि सदार्थसिद्धिः॥१३५॥

भावानुवाद—श्रीराधिका बोलीं—सिद्धज्ञानविद् तुम्हारी वंशी तो अत्यधिक शोभायुक्त रूपमें तुम्हारे हाथमें ही विराजमान है। वही तो परमसती कुल-रमणियोंको तुम्हारे समीप सम्यक् रूपसे अर्थात् तुम्हारे अभिप्रायको पूर्ण करनेके लिए ले जाती है। तुम्हें किसी अन्य मन्त्रसे क्या प्रयोजन है? श्रीकृष्णने उत्तर दिया—तुमलोग जब वंशीको चुरा लेती हो, उस समय मेरे पास और क्या उपाय रहेगा? अतएव वंशी द्वारा मेरा कार्य सर्वदा पूर्ण नहीं होता॥१३५॥

देवी ह्रिया तव गृहान्तरिहास्ति लीना
त्वाम् एव मन्त्रमुपदेक्ष्यति सा कथं वा।
उत्कण्ठसे तदपि चेत् प्रविश स्वयं भोः
सा चेत् दयेत भविता एव कार्यसिद्धिः॥१३६॥

भावानुवाद—तब ललिता बोलीं—हे कृष्ण! देवी तुम्हें देखकर लज्जासे घरमें छिप गयी है। वह तुम्हें मन्त्र क्यों उपदेश करेगी? तथापि यदि तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हो, तो तुम स्वयं घरमें प्रवेश करो। यदि देवीकी कृपा होगी, तो तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी॥१३६॥

इत्यच्युते विशति वेश्म जगाद राधा
किं तत्त्वमत्र सखि! मां वद संशयानाम्।

राधे! न सङ्कुच चल प्रविशामि तस्याः
सख्यास्तवात्र हरिणा कलयामि सङ्गम्॥१३७॥

भावानुवाद—यह सुनकर श्रीकृष्णने घरमें प्रवेश किया। तब श्रीराधिका पूछने लगीं—ललिते! यह तुम क्या कर रही हो, स्पष्टरूपसे बतलाओ। मुझे तो कुछ समझमें नहीं आ रहा है और मुझे कुछ सन्देह भी हो रहा है। ललिता बोली—सखि राधे! तुम संकोच मत करो, चलो, हम भी घरमें चलकर श्रीकृष्णके साथ तुम्हारी उस सखीके 'मिलन'का दर्शन करेंगी॥१३७॥

आलीषु मन्दहसितामृतवर्षिणीषु
कृष्णोक्तिपाटवमथोदभिनत् तदुप्तम्।
हृद्वप्रमन्वधित तर्कतरुस्ततोऽस्या
ऋद्धः फलं बहुरसं निखिलावबोधम्॥१३८॥

भावानुवाद—अनन्तर श्रीराधिकाके हृदय-क्षेत्रमें श्रीकृष्णका वचन-नैपुण्यरूपी जो बीज रोपित हुआ था, वह श्रीललितादि सखीवृन्दरूप मेघमालाके मृदुहास्यरूप जल-वर्षणसे अंकुरित होकर तर्करूप वृक्षमें प्रकटित हुआ। फिर उसी वृक्षने यथार्थ ज्ञानरूप अत्यन्त रसपूर्ण फलको प्रसव किया।

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण द्वारा देवीसे मन्त्र-ग्रहणरूप वाक्य-चातुर्यसे श्रीराधिकाके हृदयमें जो सन्देह उठा था, सखियोंके हास्य द्वारा वह और भी घनीभूत हो गया। फिर श्रीराधिका अपने हृदयमें बहुत तर्क-वितर्कके बाद सब कुछ समझ गयीं। इस घटनाके माध्यमसे करोड़ों प्राणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ श्रीकृष्णके साथ अपना मिलन हुआ जानकर वे परम आनन्दित हुईं॥१३८॥

अन्तर्दधे बहिरगादथवात्रदेवी
तन्मार्गणाय तदितस्त्वरया प्रयामः।
विद्यां त्वमेव सखि! तामुपदिश्य कृष्ण-
मानन्दयेति सहसा निरगुस्तदाल्यः॥१३९॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीललिता बोलीं—वे देवी तो इस स्थानसे अन्तर्हित हो गयी है अथवा बाहर चली गयी है। हमलोग शीघ्र ही उन्हें ढूँढ़नेके लिए जा रही हैं। हे सखि राधे! तुम स्वयं ही उस मन्त्रका उपदेश करके श्रीकृष्णको आनन्दित करो। यह कहकर सखियाँ शीघ्र ही उस स्थानसे प्रस्थान कर गयीं॥१३९॥

तत् प्रेमसम्पुटगतैर्बहुकेलिरत्नै–
स्तौ मण्डितावजयतां रतिकान्तकोटीः।
सन्तोऽपि यत् श्रवणकीर्त्तनचिन्तनाद्यै–
स्तौ प्राप्तुमुन्नतमुदः सततं जयन्ति॥१४०॥

भावानुवाद—उस समय श्रीश्रीराधाकृष्ण दोनों ही प्रेमरूप सम्पुटके भीतर अर्थात् प्रेमसे उदित बहुत प्रकारके विलासरूप रत्नराशिके द्वारा विभूषित होकर कोटि-कोटि कन्दर्पोंको पराजित करने लगे। यह अधिक आश्चर्यका विषय नहीं है, क्योंकि साधु भक्तजन उन युगल-किशोर श्रीश्रीराधाकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा प्राप्त करनेके लिए उन समस्त केलि-रत्नोंके श्रवण, कीर्त्तन तथा चिन्तनादि द्वारा परमानन्द प्राप्त कर सकेंगे और सतत ही कामको पराजित कर सकेंगे।

तात्पर्य यह है कि अप्राकृत लीलारसका आस्वादन प्राप्त होनेपर प्राकृत भोग लालसा हृदयमें नहीं रह सकेगी। लीलारसके आस्वादनमें ही चित्त नित्यकाल निमग्न रहेगा। देह-इन्द्रियादिकी सुध-बुध पाने तकका भी अवकाश उनको नहीं रहेगा॥१४०॥

षट्शून्यऋत्ववनिभिर्गणिते तपस्ये
श्रीरूपवाङ्मधुरिमामृतपानपुष्टः।
राधागिरीन्द्रधरयोः सरसस्तटान्ते
तत् प्रेमसम्पुटमविन्दत कोऽपि काव्यम्॥१४१॥

इति श्रीप्रेमसम्पुटः सम्पूर्णः।

भावानुवाद—१६०६ शकाब्दके फाल्गुन मासमें श्रीराधाकुण्ड तथा श्रीश्यामकुण्डके तटपर अवस्थित, श्रील रूपगोस्वामीपादके वचन-माधुर्यामृतके पानसे परिपुष्ट किसी एक जन द्वारा श्रीश्रीराधाकृष्ण सम्बन्धी यह 'प्रेमसम्पुट' काव्य प्रकाशित हुआ।

यहाँ श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपादने दैन्यवशतः अपना नाम प्रकट नहीं किया है॥१४१॥

इति श्रीलभक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामि सम्पादितं श्रीप्रेमसम्पुटभावानुवादं सम्पूर्णम्।

सम्पुटका अर्थ है वह आधार (स्थान) जहाँ बहुमूल्य रत्नादिको लोगोंकी दृष्टिसे बचाकर यत्नपूर्वक गोपन या संरक्षित किया जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीराधाजीके हृदयरूपी सम्पुटसे उद्घाटित उन्नत–उज्ज्वलरसजात प्रेमका इस ग्रन्थ रूपी 'संदूक' में संरक्षण किया है, इसलिए इस ग्रन्थका नाम 'प्रेमसम्पुट' है।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज